चिन्तन की गहराइयाँ



डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

17.3

चिन्तन की गहराइयाँ

डॉक्टर हुकमचन्द भारिल्ल
के
साहित्य में से चुने गये महत्त्वपूर्ण अंश

संकलन एवं संपादन :
ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथमावृत्ति : ५ हजार
दिनांक : १ जनवरी, १९९९ ई.

मूल्य : १५ रुपये

अनुक्रमणिका

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.
एम.आई. रोड, जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित सत्साहित्य में से महत्त्वपूर्ण चयनित अंशों को **'चिन्तन की गहराइयाँ'** नाम से प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है। डॉ. भारिल्ल सिद्धहस्त लेखक हैं, जिनकी सशक्त लेखनी के कारण जिनवाणी के अनेक सिद्धान्त व तथ्य सूक्तियों जैसे ही बन गये हैं। ऐसे ही कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों को उनके द्वारा लिखित १७ पुस्तकों में से चयन करके इस कृति में संकलित किया गया है।

आजतक आपके साहित्य की कुल ३६ लाख ५४ हजार ९०० प्रतियाँ बिक चुकी हैं; इससे आपकी लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

डॉ. भारिल्ल ने जिनवाणी का कितनी गहराई से चिन्तन किया है – यह इन चयनित अंशों को पढ़ने से स्पष्ट समझने में आता है। अतः इसका नाम **'चिन्तन की गहराइयाँ'** सार्थक ही है।

डॉ. भारिल्ल द्वारा सृजित साहित्य पर मनीषियों द्वारा समय-समय पर जो उद्गार व्यक्त किये गए हैं, उनके कतिपय महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार हैं —

'आप कुछ भी कहो' के सन्दर्भ में **आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज** लिखते हैं कि पुस्तक बहुत सुन्दर है, इसमें कल्याणकारी मार्ग की ही बातें हैं; **अध्यात्मयोगी मुनिश्री विजयसागरजी महाराज** लिखते हैं कि पुस्तक के द्वारा परम-सत्य को जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया गया है।

ब्र. पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी लिखते हैं कि समाज को नई दिशा में मोड़ने का जो काम संस्थाओं के बड़े-बड़े प्रस्ताव और विद्वानों के लम्बे-चौड़े व्याख्यान नहीं कर सकते; वह काम प्रथमानुयोग सम्बन्धी इसप्रकार के प्रयास सहज ही कर सकते हैं। 'नवभारत टाइम्स' के संपादक **श्री अक्षयकुमारजी जैन** लिखते हैं कि आधुनिक परिवेश में प्राचीन वाङ्मय को इसप्रकार उतारा गया है कि चमत्कार ही हो गया है। विद्वत् परिषद के अध्यक्ष **डॉ. राजारामजी जैन** लिखते हैं कि कहानियों के माध्यम से जैनधर्म के मूलतत्त्वों को हृदयस्पर्शी बताकर आपने शिक्षित, अर्द्धशिक्षित आबाल-नर-नारियों का

महदुपकार किया है। 'जैनमित्र' (साप्ताहिक), सूरत के सहसंपादक **पण्डित ज्ञानचन्दजी 'स्वतंत्र' शास्त्री** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल की कृतियाँ अभूतपूर्व और बेजोड़ होती हैं। जो विद्वान उनके साथ उठा-पटक करते हैं, वे भी उनकी कृतियों की प्रशंसा करते देखे गये हैं।

'सत्य की खोज' के सन्दर्भ में **पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य** लिखते हैं कि विद्वान लेखक ने एक कथानक के रूप में इतनी सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तक लिखी है कि उसे पढ़ने में उपन्यास का आनन्द आता है; किन्तु पाठक की मोहनिद्रा दूर होती है। **'जिनवाणी' (मासिक),** जयपुर के संपादक **डॉ. नरेन्द्रजी भानावत** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल आध्यात्मिक प्रवक्ता और दार्शनिक रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, इस पुस्तक के द्वारा वे एक सफल कथाकार के रूप भी सामने आये हैं। **'सन्मति सन्देश' (मासिक),** दिल्ली के संपादक **पण्डित प्रकाशचन्दजी 'हितैषी'** लिखते हैं कि यदि इस कृति का जीवन में उपयोग किया जाए तो यह एक शुगर कोटेड औषधि है, जो कहानी के आनन्द के साथ रोग को समूल नष्ट कर सकती है।

क्रमबद्धपर्याय' के सन्दर्भ में **आचार्यश्री जयसागरजी महाराज** लिखते हैं कि क्रमबद्धपर्याय तो चारों अनुयोगों में है। धवला, महाधवला, जयधवला आदि ग्रन्थों में भी क्रमबद्ध तथा सर्वज्ञता की पोषक बातें हैं। **मुनिश्री विजयसागरजी महाराज** लिखते हैं कि सर्वज्ञता का सहारा लेकर क्रमबद्धपर्याय को जिन उदाहरणों और ठोस प्रमाणों से संकलन किया है, उससे ज्ञानी पुरुष तो लाभान्वित अवश्य होंगे ही; किन्तु अज्ञानियों पर भी इसकी झलक पड़े बिना नहीं रहेगी। **मुनि श्री नेमिसागरजी महाराज** लिखते हैं कि आपका प्रयास अकथनीय सराहनीय है। आपने इस विषय को बहुत अच्छा खोला है।

स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्तिस्वामीजी, मूड़बिद्री (कर्नाटक) लिखते हैं कि भारिल्लजी उत्तमवक्ता के साथ कलम के धनी भी हैं। उन्हें शास्त्रगत सिद्धान्त की गहराई तक पहुँचकर उसे नई रीति से प्रस्तुत करने में सफलता मिली है।

पण्डित भँवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, मारोठ लिखते हैं कि मुझे यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं है कि ऐसे शुष्क दार्शनिक विषय को जिस रोचक एवं तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है, वह डॉ. भारिल्ल की लेखनी से ही अनुस्यूत हो सकती थी। **डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर** लिखते हैं कि पर्यायों की क्रमबद्धता मुझे इष्ट है। मात्र विरोध के लिए विरोध करना अच्छा नहीं है। **पद्मश्री यशपालजी जैन** लिखते हैं कि पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक नई दृष्टि देती है और पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करने को प्रेरित

करती है। **भा. दिग. जैन संघ, मथुरा के प्रधानमंत्री प्रो. खुशालचन्द गोरावाला** लिखते हैं कि श्री कानजीस्वामी ने इन विषयों का व्यापक प्रचार किया है तथा डॉ. भारिल्लजी उनके गणधर का काम कर रहे हैं। **प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री अगरचन्दजी नाहटा** लिखते हैं कि वास्तव में डॉ. भारिल्लजी को इस विषय का बहुत गम्भीर चिन्तन है। इससे उलझा-सा विषय स्पष्ट हो गया है। **'सन्मतिवाणी' (मासिक) इन्दौर के संपादक संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल अच्छे वक्ता एवं लेखक हैं। प्रस्तुत रचना उनकी वक्तृत्व शैली के अनुरूप प्रतीत होती है।...... लेखक का चिन्तन, अध्ययन और परिश्रम सराहनीय है। **जैन गजट के सम्पादक प्राचार्य डॉ. नरेन्द्रप्रकाशजी जैन** लिखते हैं कि जो लोग इस सिद्धान्त से अब भी मतभेद रखते हैं, इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उन्हें एक अवसर मिला है कि वे अथाह आगम-सिन्धु में पुनः पुनः गोते लगाएँ और नये-नये मोती ढूँढ़कर लायें।

'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' के सन्दर्भ में **राजस्थान पत्रिका, जयपुर** के संपादक **श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय** लिखते हैं कि जैन बंधुओं के लिए तो पुस्तक हस्तामलक के समान है ही, विभिन्न धर्मों के अध्ययन में रुचि रखनेवालों के लिए भी अत्यन्त उपादेय है।

'बारह भावना : एक अनुशीलन' के सन्दर्भ में **सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री, वाराणसी** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल सुलझे हुए विचारों के विद्वान हैं। उनका तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अध्ययन तलस्पर्शी है, साथ में वे अच्छे कवि भी हैं। **इतिहासरत्न डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ** लिखते हैं कि यह खोजपूर्ण निबन्ध उत्तम, मननीय एवं उपयोगी है। बारह भावनाओं का क्रमशः विवेचन बड़ा ही प्रभावक है। **आयुर्वेदाचार्य पण्डित राजकुमारजी शास्त्री, निवाई** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल एक अच्छे प्रवक्ता, प्रबुद्ध विचारक और कुशल लेखक हैं। आपके लिखने और बोलने की एक विशेष शैली है। **प्रो. उदयचन्द्रजी जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल एक सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी कृतियों की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। **पुरातत्वविद् श्री नीरजजी जैन, सतना** लिखते हैं कि यह बारह भावना जन-जन का कंठहार बने।

'धर्म के दशलक्षण' के सन्दर्भ में **पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी** लिखते हैं कि डॉ. भारिल्ल ने साहित्य के क्षेत्र में इस पुस्तक पर सचमुच डॉक्टरी का प्रयोग किया है। दशधर्मों की औषधि का प्रयोगकर, दशविकारों की बीमारी का ऑपरेशन बहुत ही सुन्दरता से किया है।

समयसार अनुशीलन व **परमभाव प्रकाशक नयचक्र** के सम्बन्ध में **आचार्य श्री धर्मभूषणजी मुनिराज लिखते** हैं कि आपके ग्रन्थ जैनधर्म के अनमोल रत्न हैं। जिसप्रकार सूर्य अंधकार का विनाश करने में समर्थ है; उसीप्रकार आपका 'समयसार अनुशीलन' व 'परमभाव प्रकाशक नयचक्र' संसार-सागर में भटकने से बचने वाले मुमुक्षुओं के लिए नौका समान है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि डॉ. भारिल्ल की कृतियों का समाज में तो समादर है ही; मनीषियों की दृष्टि में भी वे अद्वितीय हैं, उपयोगी हैं और मूलतः पठनीय हैं।

इस प्रकाशन का मूल उद्देश्य भी यही है कि लोग उनकी कृतियों के नमूनों को देखकर उनकी कृतियों को मूलतः पढ़ने के लिए प्रेरित हों।

इनका संकलन करने हेतु उनके समग्र साहित्य का सूक्ष्मता से अध्ययन करके चयन करने का श्रमसाध्य कार्य ब्र. यशपालजी जैन ने किया है, जो उनकी आध्यात्मिक रुचि का परिचायक है। इस संकलन हेतु उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

प्रस्तुत प्रकाशन को आकर्षक एवं शुद्ध मुद्रण हेतु जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि., जयपुर तथा प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं। प्रूफ संशोधन का कार्य पण्डित राजेश शास्त्री, शाहगढ़ ने किया है; अतः उन्हें भी हार्दिक धन्यवाद! साथ ही वे महानुभाव भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग दिया है। उनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है।

इस संकलन से प्रेरणा लेकर सभी भाई-बहन डॉ. भारिल्ल के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करें एवं चिन्तन की गहराइयों को प्राप्त करके अपना कल्याण करें, यही मंगल भावना है।

२५ दिसम्बर, १९९८ ई.

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री,
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादकीय

सर्वोदय स्वाध्याय समिति, बेलगाँव (कर्नाटक) ने डॉक्टर हुकमचन्दजी भारिल्ल का अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया और तदनुसार कुछ कार्य भी चालू किया। इसकारण मुझे डॉ. भारिल्ल के समग्र साहित्य पढ़ने का भाव मन में उत्पन्न हुआ एवं मैंने साहित्य पढ़ना प्रारम्भ भी कर दिया। पढ़ते-पढ़ते मुझे कुछ परिच्छेद, कुछ विशिष्ट विचार अतिप्रिय तथा प्रभावी प्रतीत हुए। इसलिए मैंने पेन्सिल से रेखांकित करते हुए पढ़ना प्रारम्भ किया। एक विचार और भी आया कि ''जो लोग डॉ. भारिल्ल के साहित्य को सम्पूर्णत: पढ़ नहीं सकते, वे कम से कम महत्त्वपूर्ण अंशों को पढ़ेंगे तो उनको अवश्य लाभ होगा। तदनन्तर लोग उनका पूर्ण साहित्य भी पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे।'' मैंने अपना विचार डॉ. भारिल्ल को बताया और उन्होंने सहज स्वीकृति प्रदान की।

उनकी उन १७ पुस्तकों के नाम संस्करण वर्ष के साथ पृष्ठ (viii) पर दिये हैं, जिनमें से हमने चिन्तन की गहराइयाँ चुनी हैं और जो मूलत: एक हजार पाँच सौ पृष्ठों में हैं। काम पूर्ण होने पर भी मैं तत्त्वप्रचार के निमित्त जयपुर से बाहर रहा। इस कारण प्रकाशन में देर हो गई।

इस पुस्तक को पढ़कर डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित मूल साहित्य सम्पूर्णत: पढ़ने की प्रेरणा अनेकों को मिलेगी तो मैं अपने इस कार्य को एवं श्रम को सफल समझूँगा। इसे पढ़कर रसिक पाठक कुछ सुझाव देंगे तो मुझे सहर्ष स्वीकार होंगे।

१ दिसम्बर, १९९८ ई.

ब्र. यशपाल जैन
ए-४, बापूनगर, जयपुर

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(जिनमें से चिन्तन की गहराइयाँ चुनी गयीं)

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	संस्करण	दिनांक	अबतक प्रकाशित कुल प्रतियाँ
१.	सत्य की खोज	दसवाँ	१५-८-९८	१ लाख ४ हजार २००
२.	आप कुछ भी कहो	सप्तम	१२-३-९८	६३ हजार ४००
३.	धर्म के दशलक्षण	दसवाँ	१-११-९७	९३ हजार ६००
४.	बारह भावना : एक अनुशीलन	पंचम	२७-५-९८	३१ हजार २००
५.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	पंचम	२०-४-९७	४६ हजार २००
६.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	चौदहवाँ	१२-३-९८	२ लाख ४९ हजार २००
७.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	चतुर्थ	१५-८-९३	४० हजार
८.	वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर	छठवाँ	१-८-८३	५२ हजार
९.	सारसमयसार	द्वितीय	१-१२-८९	६ हजार ४००
१०.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	सप्तम	५-४-९३	६४ हजार ४००
११.	आत्मा ही है शरण	द्वितीय	२-५-९५	१४ हजार २००
१२.	क्रमबद्धपर्याय	छठवाँ	१५-१०-९७	८७ हजार ४००
१३.	मैं कौन हूँ?	दसवाँ	९-५-९७	९८ हजार
१४.	निमित्तोपादान	द्वितीय	१-८-९७	१८ हजार
१५.	गागर में सागर	पंचम	१२-३-९८	२३ हजार ६००
१६.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	द्वितीय	१५-१२-८८	१० हजार ४००
१७.	शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	चतुर्थ	३०-४-९५	४५ हजार ७००
			कुल योग :	१० लाख ४९ हजार

सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध सशक्त
किन्तु सरल एवं सुबोध कथानक

सत्य की खोज

(१)

तर्क की कसौटी पर सर्वथा असत्य उतरने वाली ऐसी मूर्खतापूर्ण अफवाहें सामान्यजनों को ही आकर्षित कर पाती हैं। थोड़ी-सी भी बुद्धि रखनेवाले विवेकीजन इनके चक्कर में नहीं पड़ते। पृष्ठ-१

(२)

जो कार्य जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस रूप में होना होता है; वह उसी क्षेत्र में, उसी काल में, उसी रूप में होता है; उसे कोई भी व्यक्ति बदलने में समर्थ नहीं, फिर भी अज्ञानी जीव व्यर्थ की आकुलता करके दुःखी हुआ करते हैं और ढोंगी-पाखण्डी साधुओं के चक्कर में आकर अपना सब-कुछ खो बैठते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि विवेक बिना मनुष्य पग-पग पर ठगाया ही जाता है। पृष्ठ-२

(३)

यौवनागम में कल्पना की उत्ताल तरंगों से आज तक कौन बच पाया है? फिर भी बड़ों की मर्यादा विनयशील युवक कभी नहीं छोड़ते। पृष्ठ-३

(४)

सरल-स्वभाव निश्छल व्यक्तियों की आकृति ही मनोगत को प्रकट कर देती है और बुद्धिमान लोग आकृति देखकर ही मन की बात समझ लेते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि अनुभवी व्यक्ति सामने वाले के मनोगत को जानने में निपुण होते हैं, तथापि मनोगत की सत्यता में शंका तो बनी ही रहती है। पृष्ठ-४

(५)

संयोग तो सब निश्चित होते हैं। प्रकृति ने हमें चुनने का अधिकार दिया ही कब है ? हम तो मात्र अपने विकल्प की पूर्ति करते हैं। मैं एक बात कहता हूँ — क्या हमने अपने माँ-बाप का भी चुनाव किया था? वे तो जिसको जैसे सहजसंयोग से मिल जाते हैं, बिना मीनमेख किए स्वीकार कर लिए जाते हैं।

क्या हमने कभी भाई-बहनों का भी चुनाव किया है? क्या कभी किसी ने ऐसा भी कहा है कि यह तो काली है, मैं इसे अपनी बहन नहीं मान सकता? इसके तो दाँत निकले हैं, इसे मैं अपनी माँ कैसे मानूँ? माँ और बहिन सहजसंयोग से जैसी मिल गईं, स्वीकार कर लिया, किन्तु जहाँ पत्नी का प्रश्न आया तो… पृष्ठ-५

(६)

यही भी तो सोचो कि यदि माँ-बाप और भाई-बहन के चुनाव का अधिकार माता-पिता का था, तो क्या तुम सन्तान चुन-चुन कर पैदा करोगे या जैसी भी उत्पन्न हो जावेगी सहज स्वीकार कर लोगे? यदि कोई काली-कलूटी सन्तान उत्पन्न हो गई तो क्या उसे अस्वीकार कर दोगे? पृष्ठ-६

(७)

अपन क्या नहीं कर सकते? सब-कुछ कर सकते हैं। दूसरों के बारे में न सही, अपने बारे में तो सही निर्णय ले ही सकते हैं, सही कदम उठा ही सकते हैं? पृष्ठ-७

(८)

भारत में वर या कन्या की खोज की जाती है, उन्हें चुना नहीं जाता। वर खोजना, कन्या खोजना शब्द का व्यवहार यह बताता है कि है तो सब पूर्व निश्चित ही, पर पता न होने से मात्र खोज की जाती है। पृष्ठ-७

(९)

धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है। धर्म का कुल से क्या सम्बन्ध? धर्म का सम्बन्ध तो निज विवेक से है। पृष्ठ-१०

(१०)

जरा विचारिए तो सही कि यदि हम उस कुल में पैदा हुए होते, जिसमें मद्य–मांसादि का सेवन किया जाता है तो क्या फिर उनका सेवन भी धर्म होता? क्या फिर हम यह तर्क देते कि 'क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे?' पृष्ठ–१०

(११)

यदि हम सच्चा धर्म कुलाचार जानकर अपनाते हैं तो वह कुल प्रवृत्ति ही होगी, धर्म नहीं। धर्म तो व्यक्तिगत विश्वास है, जो विवेकपूर्वक स्वीकार किया जाता है। पृष्ठ–११

(१२)

दुनिया में तो हम किसी भी वस्तु को स्वीकार करते समय पूरी परीक्षा करते हैं। यह नहीं कहते कि मैं तो इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूँ, मैं क्या परीक्षा करूँ? वहाँ तो बुद्धि अनुसार परीक्षा करते ही हैं। फिर धर्मक्षेत्र में ही क्यों बुद्धि को गिरवी रखकर काम करना चाहते हैं? पृष्ठ–११

(१३)

किसी की पूर्व–मान्यता का यदि सीधा खण्डन किया जाये तो विवेक उत्पन्न न होकर, कषाय ही उत्पन्न होती है। अतः विवेक का कार्य तो यही है कि अपनी बात इस प्रकार रखे कि सुनने वाले के सम्मान को चोट भी न पहुँचे और सत्य उसके सामने आ जाए।

दूसरी बात यह भी तो है कि घंटों का उपदेश जिस बात को किसी के गले नहीं उतार सकता, वह बात प्रयोग द्वारा एक क्षण में स्वीकृत हो जाती है।

नारियाँ स्वभावतः ही भ्रमणप्रिय होती हैं फिर पति के साथ भ्रमण का अवसर कौन नारी खोना चाहेगी? तीर्थयात्रा का भ्रमण और वह भी पति के साथ, यह तो भारतीय नारी के जीवन की सबसे बड़ी साध होती है। पृष्ठ–१२

(१४)

नारियाँ सहज ही श्रद्धामयी होती हैं। धार्मिक भावना भी उनमें पुरुषों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है, पर समुचित शिक्षण के अभाव में उनमें विवेक का विकास नहीं हो पाता। पृष्ठ–१३

(१५)

सच्चा साथी और सन्मित्र ही उसे कहते हैं जो अपने साथी और मित्र को हित में नियोजित करे। पृष्ठ-१४

(१६)

बालक और स्त्रियाँ जब हठ पर अड़ जाती हैं तो उन्हें भगवान भी नहीं समझा सकता और समझ में समझाने से आता ही कब है, समझने से आता है। पृष्ठ-१५

(१७)

जो समझना चाहता है, उसे समझाया जा सकता है। जो हट पर आ जावे, अपनी बात की ही रट लगाए रहे, दूसरे की सुने ही नहीं; उसे भगवान भी नहीं समझा सकते। पृष्ठ-१५

(१८)

नासमझ होते हुए जो अपने को समझदार मान बैठा हो, उसे समझाना कठिन ही नहीं; असम्भव है। अतः सर्वप्रथम हमें अपने अज्ञान का ज्ञान करना चाहिए। अपने अज्ञान के ज्ञान बिना, कोई समझने को ही तैयार नहीं होता। जो अन्तर से समझने को तैयार होता है, वही समझ सकता है और समझाने वाले का प्रयत्न भी उसे ही समझाने में सफल होता है। पृष्ठ-१५

(१९)

विवेकीजन यथासंभव संघर्ष को टालने में ही अपनी जीत समझते हैं, उलझने में नहीं।

ज्ञानी और अज्ञानी में यदि कभी संघर्ष हो तो जीत सदा अज्ञानी की ही होती है; क्योंकि संघर्ष ज्ञान से नहीं, कषाय से चलता है। ज्ञानी की कषाय कमजोर होने से उसका संघर्ष का संकल्प शीघ्र क्षीण हो जाता है। पृष्ठ-१६

(२०)

वास्तव में ज्ञानी की हार ही उसकी सबसे बड़ी जीत है। पृष्ठ-१६

(२१)

ज्ञानी तो अपने प्रयोजन की सिद्धि की सफलता में ही अपनी जीत मानते हैं। अत: वस्तुत: वे कभी हारते ही नहीं; क्योंकि वे येन-केन-प्रकारेणं अपने प्रयोजन की सिद्धि को ही लक्ष्य में रखते हैं। पृष्ठ-१६

(२२)

प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दु:ख के कारण स्वयं उसमें ही विद्यमान हैं। अनादि अज्ञान के कारण वह अपने सुख-दु:ख का कारण पर को मानता आ रहा है; अत: उसका सारा प्रयत्न पर को सुधारने के विकल्प में ही लगा रहता है; वह परोन्मुखी ही बना रहता है, स्वोन्मुख कभी नहीं होता। पृष्ठ-१७

(२३)

यह आत्मा दूसरों को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में जितनी शक्ति और समय नष्ट करता है, यदि उसका शतांश भी अपने को सुधारने में लगाए तो यह पूर्ण सुखी हुए बिना न रहे। पृष्ठ-१७

(२४)

उसकी दृष्टि में भगवान डॉक्टरों के समान विश्वसनीय भी नहीं थे; क्योंकि उसने जब डॉक्टरों से इलाज कराया था तो कोई ऐसी शर्त नहीं रखी थी कि पैसा रोग ठीक होने पर मिलेगा, यदि रोग ठीक नहीं हुआ तो नहीं मिलेगा। पर भगवान से सौदा सशर्त ही किया था। ठीक होने पर ही चढ़ावा चढ़ाना बोला था। पृष्ठ-१९

(२५)

भक्ति तो भगवान के गुणों के प्रति अनुराग को कहते हैं। पृष्ठ-१९

(२६)

ये सब लोग तो भोगों की भीख माँगने आए हैं, ये भोगों के भिखारी हैं। इन्हें इतना भी ध्यान नहीं है कि जिन भोगों को भगवान ने स्वयं दु:खरूप और दु:ख के कारण जानकर त्याग दिया है, वे भक्तों को क्यों देंगे?

वे दे भी कैसे सकते हैं, उनके पास है भी कहाँ? वे तो उन्हें त्याग ही चुके हैं। और किसी के देने से भोग मिलते ही कब हैं? वे तो अपने पुण्योदय से प्राप्त होते हैं। पृष्ठ-१९

(२७)

भोगों की आकांक्षा से भक्ति के नाम पर भगवान से भोगों की भीख माँगने वालों को पुण्य का बंध भी नहीं होता है। पृष्ठ-१९

(२८)

वीतरागी परमात्मा का उपासक तो वीतरागता का ही उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

सच्ची भक्ति के समय चित्त इतना दीन नहीं रह सकता कि वह कुछ माँग करे। माँगने वाले के मन में भक्ति ठहर ही नहीं सकती। वीतराग की भक्ति में तो माँगना संभव ही नहीं, वीतराग का भक्त तो कुछ माँग ही नहीं सकता। जो माँगे वह वीतराग का भक्त है ही नहीं। पृष्ठ-२०

(२९)

माँगने में कुछ बदलने का भाव रहता है, अतः माँगने वाले ने वस्तु का सहज परिणमन स्वीकार नहीं किया। माँगने में अन्याय भी है; क्योंकि दुःख तो उसके कर्मों का फल है, जिसे वह भोगना नहीं चाहता, भगवान के माध्यम से माफ कराना चाहता है। कोई व्यक्ति चोरी करे, चोरी करना न छोड़ना चाहे और उसके फल को भी न भोगना चाहे और उसमें भगवान की सहायता चाहे, यह कहाँ का न्याय है ? और भगवान उसमें सहयोग करेंगे भी क्यों ? पृष्ठ-२१

(३०)

भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक़ चमत्कारों और सन्तान धनादि देने के कारण नहीं। जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घर-बार छोड़कर आत्म-साधनारत हुए हों,

उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है? उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है। पृष्ठ-२१

(३१)

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भी भेदभाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं तो शान्तिनाथ शान्ति। इसीप्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) को ठीक करने वाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठरोग निवारण करने वाला कहा जाता है।

भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एक-सी शक्ति अनन्तवीर्य के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है? एक तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते और पार्श्वनाथ शान्तिनाथ के समान शान्ति नहीं कर सकते? ऐसा कोई भेद तो अरहन्त-सिद्ध भगवन्तों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं, वो कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना शेष ही नहीं रहा, वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहिचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं; अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिए। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतरागता का उपासक हो ही नहीं सकता।

विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पाप-बंध ही होता है, पुण्य का बन्ध नहीं होता। पृष्ठ-२२

(३२)

भाई ! भगवान पर का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। सबसे बड़ी परेशानी की बात तो यही है कि हम भगवान का सही स्वरूप ही नहीं समझते। तभी तो यह सब ढोंग-धतूरे पनपते हैं भगवान कें नाम पर। पृष्ठ-२४

(३३)

भगवान तो वीतरागी होते हैं। वे प्रशंसक से प्रसन्न और निन्दक से नाराज नहीं होते। भगवान तो शत्रु-मित्र दोनों में समभाव रखने वाले होते हैं। पृष्ठ-२९

(३४)

भगवान पार्श्वनाथ तो उपसर्ग करने वाले कमठ पर भी नाराज नहीं हुए थे और न ही रक्षा के विकल्प में उलझे धरणेन्द्र पर प्रसन्न ही हुए थे। वे राग-द्वेष से परे रहे, तभी पूर्णज्ञान प्राप्त कर सके। पृष्ठ-२९

(३५)

कपोलकल्पित चमत्कारों की बढ़ा-चढ़ाकर चर्चा करना भगवान का बहुमान नहीं, भक्ति नहीं, स्तुति नहीं; वरन् उनमें विद्यमान वीतरागता, सर्वज्ञता, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों का चिन्तवन, महिमा, बहुमान ही वास्तविक भक्ति है। पृष्ठ-२९

(३६)

यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि ज्ञानी तो अज्ञानी को पागल समझता ही है, पर अज्ञानी भी ज्ञानी को कम पागल नहीं समझता। पृष्ठ-३१

(३७)

अंधश्रद्धा, तर्क स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि अंधश्रद्धालु को सही बात समझा पाना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। यदि वह तर्कसंगत बात को स्वीकार करने लगे तो फिर अंधश्रद्धालु ही क्यों रहे? अंधश्रद्धालु को हर तर्क कुतर्क दिखाई देता है। इष्ट की आशा और अनिष्ट की आशंका उसे सदा भयाक्रान्त रखती है। भयाक्रान्त व्यक्ति की विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है। उसकी इसी कमजोरी का लाभ कुछ धूर्त लोग सदा से ही उठाते आए हैं और उठाते रहेंगे। पृष्ठ-३६

(३८)

पर तुम जरा सोचो तो, योगियों को भीड़ से क्या प्रयोजन? योगी तो एकान्तप्रिय होते हैं। भीड़ तो भयाक्रांत भोगी चाहते हैं, निर्भय योगी नहीं।

भोगी के अन्दर विषय-कषाय की अनन्त ज्वाला रहती है और योगियों के भीतर अनन्त अकषाय-शान्ति। जब एकान्त होता है तो सहज ही अन्तर प्रवेश होता है, वहाँ भोगी अनन्त विषय-कषाय की ज्वाला मैं जलता है, अतः वह एकान्त पसन्द नहीं करता। तथा योगी जब अन्तर प्रविष्ट होता है तो शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है, अतः वह एकान्त पसन्द करता है।

भीड़ से घिरा रहना और मेला लगा रहना कोई महान साधुता की निशानी नहीं है। लाइन लगने और मिलने का समय न मिलने का तो सवाल ही नहीं है। साधु का किसी से एकान्त में मिलने का क्या प्रयोजन है? वे सबका भला चाहते हैं तो उन्हें सबको ही सुख का मार्ग बताना चाहिए। उपदेश कोई दवा तो है नहीं, जो व्यक्तिगत दी जाए। पृष्ठ-३९

(३९)

अपरिग्रहियों द्वारा परिग्रह का यह नियोजन कितना हास्यास्पद लगता है। तपस्वी तो वही प्रशंसा के योग्य है जो विषयों की आशा से रहित हो, जिसके पास किसी प्रकार का आरम्भ परिग्रह न हो और जो सदा ज्ञान, ध्यान तथा तप में लीन रहता हो। तपस्वियों को इन बाह्य आडम्बरों से क्या काम?

पृष्ठ-४०

(४०)

आशारूपी पिशाची से ग्रस्त प्राणी सदा कल्पना-लोक में विचरण करता रहता है, जीवन के ठोस धरातल पर उसके पैर नहीं टिकते। सामने खड़ी मौत भी उसके स्वप्नसंसार को भंग नहीं कर पाती है। आशारूपी डोरी से बँधा हुआ प्राणी सम्पूर्ण जीवन योंही निकाल देता है। सफलता की संभावना के अभाव में भी इसकी आशा भग्न नहीं होती। कहता है — आशा पर तो आसमान टिका है। यदि आशा समाप्त हो आए तो जीवन का रस समाप्त हो जाए। सुख और शान्ति की आशा की पूर्ति जीवन भर न होने पर भी आशा लगाए ही रहता है। जहाँ आशा की सफलता की क्षीण-सी भी रेखा दिखाई न दे, वहाँ भी निराश नहीं होता। पृष्ठ-४१

(४१)

भावों के सम्प्रेषण में आँसुओं जैसी सशक्त भाषा न आज तक विकसित हो सकी है, न कभी होगी। आँसू स्त्रियों की सबसे प्रबल भाषा और सबसे बड़ा हथियार है; विशेषकर पति को परास्त करने के लिए। आज तक जो कार्य बड़ों-बड़ों से न हुआ, वह स्त्रियों के आँसुओं ने कर दिखाया है। पुरुषों को परास्त करने, झुकाने, अपनी बात मनवाने में जितने सफल आँसू रहे हैं, उतना और कोई नहीं।

आँसू स्त्रियों के लिए वरदान हैं। उनके आने से, निकल जाने से लाभ ही होता है; स्वयं का दिल हलका हो जाता है और पति का भारी। उनके द्वारा पत्नी अपनी चिन्ता पति को ट्रांसफर कर देती है।

आँसू आखिर आँखों का पानी है। आँखों का आना, जाना, लगना, खुलना सभी एक क्रान्ति लाते हैं जीवन में। पानीदार व्यक्ति अपनी पत्नी की आँखों का पानी गिरते कैसे देख सकता है। पृष्ठ-४२

(४२)

कैसी विचित्र विडम्बना है कि एक-सी ही स्थिति में एक आदमी अपने को दुःखी अनुभव करता है, दूसरा सुखी। जिस स्थिति में एक कोई कमी महसूस नहीं करता, दूसरा उसी स्थिति में अपने को दीन-हीन अनुभव करता है। यह सब वस्तु का नहीं, दृष्टि का फेर है। पृष्ठ-४२

(४३)

एक कहता है आत्मा शुद्ध है, दूसरा कहता है अशुद्ध। बात बल देने की है। द्रव्यदृष्टि वाला शुद्ध पर बल देता है, पर्यायदृष्टि वाला अशुद्ध पर। ज्ञान दोनों को जानता है। शुद्ध पर बल देने वाले को शुद्धता प्राप्त होती है, अशुद्ध पर बल देने वाले के अशुद्धता हाथ लगती है।

वस्तु नहीं, मात्र दृष्टि बदलनी है। दृष्टि बदल जाएगी तो सृष्टि स्वयं बदल जाएगी। पृष्ठ-४३

(४४)

हमें मरण नहीं, जीवन सुधारना है। जिसका जीवन सुधर जाएगा, उसका मरण भी सुधर जाएगा। जिसका जीवन नहीं सुधरा, उसका मरण कैसे सुधर

सकता है। आखिर मरण दो जीवनों की संधि ही तो है। जब जीवन ठीक है तो मरण भी ठीक होगा ही। पृष्ठ-४३

(४५)

दृष्टि का सम्यक् होना ही सुख का कारण है और दृष्टि का मिथ्या होना ही अनन्त दु:खों का घर है। पृष्ठ-४४

(४६)

संयोगों के जुटाने से सुख नहीं मिलता; किन्तु संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावोन्मुख करने से ही सत्य, सुख व सन्तोष की प्राप्ति होती है। स्वभावदृष्टिवन्त ही वस्तुतः सुखी होते हैं। पृष्ठ-४४

(४७)

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है — यश, नाम। मनुष्य और सब-कुछ छोड़ सकता है, पर यश का लोभ छोड़ना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। घर, स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, यहाँ तक कि शरीर के वस्त्र भी त्याग देता है धर्म के नाम पर; परन्तु यश की वृद्धि का लोभ उसके बाद भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। पृष्ठ-४८

(४८)

बड़प्पन का भाव, मान का ही दूसरा नाम है। यदि मान न हो तो मनुष्य को यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता, पर मान के खातिर वह क्या नहीं करता; छल-कपट करता है, छल-कपट करके अपनी सिद्धि करना चाहता है। जब उसमें कोई बाधक बनता है तो उस पर क्रोध करता है। जिन विषय-कषायों को छोड़ने के लिए वह घरबार छोड़ कर साधु बनता है — यश के, लोभ के चक्कर में उन्हीं क्रोध, मान, माया आदि के चक्कर में पड़ जाता है। तभी तो लोभ को पाप का बाप कहा जाता है। पृष्ठ-४८

(४९)

नारी सहज श्रद्धामयी भावना-प्रधान प्राणी है। पृष्ठ-४९

(५०)

दूसरों के हृदय तक अपनी बात पहुँचाने में प्रस्तुतीकरण का एक अपना अलग महत्त्व है। गलत प्रस्तुतीकरण सत्य बात को भी विकृत कर देता है। अतः वस्तु की सत्यता के समान ही प्रस्तुतीकरण का महत्त्व भी कम नहीं है।

पृष्ठ-४९

(५१)

आत्मा के अनन्त गुणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण श्रद्धा है। शेष समस्त गुण तो श्रद्धा का अनुसरण करते हैं। एक प्रकार से रुचि श्रद्धा का ही दूसरा नाम है। परपदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा की रुचि ही सम्यक्-श्रद्धा है और निजात्मा से भिन्न परपदार्थों की रुचि ही मिथ्याश्रद्धा।

बल रुचि का अनुसरण करता है, अतः बल वहीं पड़ता है जहाँ रुचि होती है। अनन्त गुणों का बल उसी दिशा में कार्य करता है, जहाँ रुचि हो। यही कारण है कि आत्मरुचिवान व्यक्ति आत्मोन्मुखी हो जाता है और पर-रुचि वाला परोन्मुखी।

पृष्ठ-५४

(५२)

जिसके प्रति श्रद्धा होती है, उसे व्यक्ति अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार हो जाता है। यदि वह अपने में हुई तो अपने लिए और पर में हुई तो पर के लिए सर्वस्व लुटा देना ही उसकी वृत्ति है।

आत्मश्रद्धान ही सम्यक्श्रद्धान है और सम्यक्श्रद्धान समस्त दुःखों से मुक्ति पाने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सोपान है। यह मुक्ति-महल की प्रथम सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी सच्चें नहीं हो सकते।

पृष्ठ-५४

(५३)

अतः श्रद्धा का लुटेरा ही सबसे बड़ा लुटेरा है। धन-जन-तन का लुट जाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; पर मन का लुट जाना, श्रद्धा का लुट जाना सब-कुछ लुट जाना है। धन-जन-तन तो पर हैं हीं, वे तो संयोगी पदार्थ हैं,

उनका आना-जाना तो लगा ही रहता है। उनके आने-जाने से आत्मा का कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। पर अनादिकाल से यह आत्मा यदि दुःखी है तो उसका एकमात्र कारण सम्यक्श्रद्धान का अभाव है, मिथ्याश्रद्धान है। उससे मुक्ति पाना ही वास्तविक मुक्ति है। पृष्ठ-५४

(५४)

चोर और डाकू सिर्फ धन लूटते हैं, उससे भी बड़े अपराधी जन लूटते हैं; तन लूटते हैं। पर श्रद्धा के लुटेरे धन-जन-तन तो लूटते ही हैं, साथ में जीवन भी लूट ले जाते हैं। अतः यह सत्य ही है कि श्रद्धा का लुटेरा सबसे बड़ा लुटेरा है। पृष्ठ-५४-५५

चतुर लुटेरा यह अच्छी तरह जानता है कि श्रद्धा को लूटे बिना किसी को पूरा नहीं लूटा जा सकता। श्रद्धा लूटने के लिये बहुत-कुछ करना होता है। अज्ञानी होते हुए भी ज्ञान का, अत्यागी होते हुए भी त्याग का, सब-कुछ रख कर भी कुछ न रखने का, सब-कुछ करते हुए भी कुछ न करने का प्रदर्शन करना पड़ता है; क्योंकि इनके बिना किसी की भी श्रद्धा को लूटना संभव नहीं है। धर्म के नाम पर ढोंग के प्रचलन का मूल केन्द्र-बिन्दु यही है। पृष्ठ-५५

(५५)

जबतक सहज श्रद्धालु नारी जाति शिक्षित नहीं होगी, उसे ढोंगी साधुओं और धूर्त महात्माओं से बचाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पृष्ठ-६२

(५६)

जबतक दुनिया में अज्ञान है, लोभ है, विषयों में सुख-बुद्धि है; तबतक इनका यह सब-कुछ चलेगा। जबतक यह जगत बुरा काम करके सुखी होना चाहता रहेगा, पाप करके उसके फल से बचना चाहेगा, धर्म की आराधना बिना सुखी होना चाहेगा, भोगों की प्राप्ति ही ध्येय बनाए रखेगा, संयोग में ही सुख की कल्पना करता रहेगा; तबतक स्वयं इनके चंगुल में आकर वैसे ही फँसता रहेगा जैसे पतंगे दीपक पर पड़ते हैं, जलते हैं — फिर भी उसी पर पड़ते हैं। पृष्ठ-६२

(५७)

जगत में कोई खोटा सिक्का चलाए तो उसको रोकना अपने बस की बात नहीं है, पर अपनी तिजोरी में खोटा सिक्का न आ जाए, इसका ध्यान तो रखना ही पड़ता है। तुम अपनी चिन्ता करो, जगत की नहीं। पृष्ठ-६३

(५८)

एक बात और भी तो है कि सुखी होने का सही रास्ता सत्य पाना है, सत्य समझना है। किसी का भंडाफोड़ करना नहीं, किसी की पोल खोलना नहीं। यदि इस एक साधु की पोल खोल भी दी तो क्या हो जाने वाला है, न जाने लोक में ऐसे कितने लोग हैं ? तुम कहाँ-कहाँ पहुँचोगी, किस-किस को बचाओगी ? सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप समझना ही कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र से बचने का सच्चा उपाय है।

सामान्यतः देव-गुरु-धर्म का विरोध करना भी तो ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो सच्चे देव-गुरु धर्म का भी निषेध हो सकता है। अतः शास्त्राधार से इनका सही स्वरूप समझने का यत्न करना चाहिए। पृष्ठ-६३

(५९)

रचनात्मक मार्ग तो सत्य का उद्घाटन है, न कि असत्य का भंडाफोड़। सत्य का उद्घाटन सत्य को समझना ही है। पृष्ठ-६४

(६०)

साधु बनना बहुत सरल है, साधु होना कठिन है। साधु बनने में कपड़े, वेष वगैरह बदलने होते हैं और साधु होने में अपने को बदलना पड़ता है अथवा स्वयं बदलता है। साधु बनना अभिनय है, साधु होना वस्तुस्थिति है। साधु बना बाहर से जाता है, साधु हुआ अन्दर से जाता है। बनने में घोषणा है, बैंड-बाजे हैं, जुलूस है, भीड़-भाड़ है; होना चुपचाप होता है। पृष्ठ-६५

(६१)

जब आदमी स्वयं किसी बड़े धोखे से बच जाता है तो उसे अपने से अधिक चिन्ता उन लोगों को बचाने की हो जाती है, जो अभी भी उसीप्रकार के धोखे में फँसे हुए हैं। पृष्ठ-६६

(६२)

जिसप्रकार सत्य दर्शन की सुरक्षा आवश्यक है, भले ही उसके कारण अनेक गलत भी चलते रहें; उसीप्रकार एक सच्चे साधु के अप्रतिबंधित विहार के लिए अनेक तथाकथित साधुओं पर भी प्रतिबंध लगाना सम्भव नहीं है।
पृष्ठ-६८

(६३)

सच्चे साधुओं के द्वारा आत्महित के साथ-साथ जगत-हित भी सहज ही होता है। सच्ची साधुता से जगत-हित होता है, पर जगत-हित के लिए साधु नहीं बना जाता। पृष्ठ-७०

(६४)

स्त्रियाँ सन्तुलित रह ही नहीं सकतीं। उनकी भावुकता उनके सन्तुलन को सदा डाँवाडोल बनाये रखती है। पृष्ठ-७०

(६५)

करुणा की जैसी तीव्रतम अनुभूति नारियों में पाई जाती है, कठोर हृदय पुरुषों में वह बहुत कम देखने को मिलती है। पृष्ठ-७१

(६६)

साधुता तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सहजवैराग्य-परिणति का फल है।
पृष्ठ-७१

(६७)

अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो अन्तर है कि अज्ञानी के समान ज्ञानी के नकली साधुता नहीं आ सकती। आ जाए तो वह ज्ञानी कैसा ? पृष्ठ-७१

(६८)

अतः साधुता को सहज ही प्रकट होने देना चाहिए। भावुकता में, वर्तमान परिणामों के भरोसे ही महानतम पद को स्वीकार कर लेना और बाद में शिथिल हो जाना, साधुता के साथ अन्याय है। उसकी बदनामी का कारण हो सकता है।

सच्चा साधु होना सिद्ध होने जैसा गौरव है। इस गरिमायुक्त महान् पद के साथ खिलवाड़ करना अपने जीवन और जगत के साथ खिलवाड़ करना है।
पृष्ठ-७३

(६९)

आज की दुनिया में विज्ञान ने क्षेत्र की दूरी समाप्त कर दी है। हजारों किलोमीटर दूर हम घंटों में पहुँच सकते हैं और मिनटों में बात कर सकते हैं। आज क्षेत्र की दूरी का कोई महत्त्व नहीं रहा, पर विज्ञान अभी काल की दूरी को समाप्त तो क्या कम भी नहीं कर पाया है; पर शास्त्र एक ऐसी निधि हैं, जिन्होंने काल की दूरी को भी एक दृष्टि से समाप्त-सा कर दिया है।

पृष्ठ-७४

(७०)

जब वीतरागी-सर्वज्ञदेव का अभाव हो, वीतरागी-संतों के भी दर्शन दुर्लभ हो जावें, तब शास्त्र-साहित्य ही एकमात्र शरण है। पृष्ठ-७४

(७१)

शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के कथन होते हैं। उनकी सही अपेक्षा समझकर उनका अर्थ समझना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। पृष्ठ-७८

(७२)

शास्त्र स्वयं तो बोलते नहीं। उनका मर्म बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। स्वयं समझ में न आवे तो ज्ञानियों से उनका मर्म समझने का प्रयत्न करना चाहिए। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है, क्योंकि वीतराग की वाणी के आधार पर ही तो शास्त्रों का निर्माण हुआ है। वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है। जो राग को धर्म बताए, राग-द्वेष का पोषण करे, वह वीतराग की वाणी नहीं हो सकती।

जिन शास्त्रों में मांसादि-भक्षण और राग-द्वेषादि भावों का पोषण हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं। पृष्ठ-७८

(७३)

वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है। जिन शास्त्रों में वीतरागता का पोषण हो, वे सच्चे शास्त्र हैं। विषय-कषाय के पोषक, विषय-

कषाय में सुख बताने वाले शास्त्र, शास्त्र नहीं; शस्त्र हैं, संसार में डुबोने वाले हैं। पृष्ठ-७९

(७४)

सत्य नहीं, सत्य की खोज खो गई है। सत्य को नहीं सत्य की खोज को खोजना है। खोज की रुचि जागृत हो गई तो सत्य मिलते देर न लगेगी।
पृष्ठ-७९

(७५)

बिना विवेक के श्रद्धा अंधी होती है। गुण-दोष का निर्णय करना विवेक का काम है। श्रद्धा का स्वभाव तो समर्पण का है; जिसके प्रति हो गई, उसके प्रति सर्वस्व समर्पण पर तुल जाती है। विवेकहीन श्रद्धा अस्थान या कुस्थान में लगे तब तो हानि करती ही है; यदि सुस्थान में भी लगे तो भी लाभ नहीं करती, क्योंकि सत्य-असत्य और गुण-दोष का निर्णय करना उसका काम नहीं है। पृष्ठ-८१

(७६)

गुण-दोष का निर्णय तो विवेक ही करता है। अत: श्रद्धा विवेकपूर्वक हो तभी सार्थक एवं शुभफलदायी होती है। भाव-भासन बिना जो श्रद्धा होगी, वह अंधी ही होगी। पृष्ठ-८१

(७७)

सहजश्रद्धालु नारी को कोई न कोई श्रद्धेय चाहिए, जहाँ वह अपने श्रद्धासुमन समर्पित कर सके। पृष्ठ-८१

(७८)

विवेक के बिना जीव जहाँ भी जाएगा, ठगा जाएगा; क्योंकि सत्या-सत्य का निर्णय करना विवेक का काम है। पृष्ठ-८१

(७९)

नारी जैसी एकनिष्ठता आप अन्यत्र नहीं पा सकते। वह जिस पर रीझ गई सो रीझ गई, वह उसी में तन्मय हो जाती है। पृष्ठ-८२

(८०)

प्रत्येक वस्तु चल होकर अचल और अचल होकर चल हो सकती है; नित्य होकर अनित्य और अनित्य होकर नित्य हो सकंती है। हो क्या सकती है, है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। पृष्ठ-८४

(८१)

यह विचित्रता वस्तु के स्वभाव में पड़ी हुई है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक है तथा प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी नहीं — विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्म-युगल पाये जाते हैं। यही कारण है कि वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा जाता है। पृष्ठ-८४

(८२)

जानना क्या 'क्रिया' नहीं है। 'ज्ञान करना' क्या करना नहीं है। ज्ञान करना भी एक काम है। जानना स्वयं क्रिया है। पृष्ठ-८५

(८३)

जिस आत्मा को जाना है, माना है; उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना ही वस्तुतः चारित्र है। स्वयं में लीन हो जाना ही वास्तविक चारित्र है। जिसके अन्तर में यह वास्तविक चारित्र प्रकट हो जाता है, उसकी बाह्य परिणति भी सहज ही शुद्ध होने लगती है। फिर उससे अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती, हो ही नहीं सकती। यदि अनर्गल प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि उसे अभी अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट ही नहीं हुआ है। अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट हो जावे और बाह्य प्रवृत्ति अनर्गल बनी रहे, यह सम्भव ही नहीं है।पृष्ठ-८५

(८४)

चारित्र तो साक्षात् धर्म है। उसके बिना तो दुखों से मुक्ति संभव नहीं है। पृष्ठ-८५

(८५)

ज्ञान का स्वभाव है तर्क-वितर्क। जब तक कोई भी सिद्धान्त तर्क की तुला पर खरा नहीं उतरता, ज्ञान उसे स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि

ज्ञानी परीक्षा-प्रधानी होता है। श्रद्धा के समान ज्ञान किसी बात को सहज स्वीकार नहीं कर लेता। वह प्रत्येक चीज तर्क की कसौटी पर कसता है। जो खरी उतरती है, उसे स्वीकार करता है। जो सिद्धान्त, वस्तु या व्यक्ति परीक्षा बरदाश्त नहीं कर सकता, वह उसे स्वीकार नहीं होता। पृष्ठ-८७

(८६)

मैं तो अरस, अरूपी ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा हूँ — जो अनादि-अनन्त है, अजर-अमर है, न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। जन्मना-मरना तो पर्याय पलटने को कहते हैं। मैं मात्र पर्याय नहीं हूँ। जिसमें से पर्याय आती है, मैं तो ऐसा त्रैकालिक पदार्थ हूँ। पृष्ठ-८८

(८७)

विभिन्न पदार्थों की एकता का ज्ञान और रागद्वेषोत्पादक विचार न तो वास्तविक तत्त्वज्ञान है और न तत्त्वविचार। भेद-विज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और वीतरागता ही वास्तविक चारित्र। पृष्ठ-९२

(८८)

रुचि ध्यान की नियामक है। जीव की रुचि जिस ओर लग जाती है, उसका ध्यान सहज ही बार-बार उसी ओर जाता है। प्रत्येक जीव के ध्यान का केन्द्र-बिन्दु वही वस्तु बनी रहती है, जो उसे रुचिकर होती है। पृष्ठ-९३

(८९)

समझने वाले की अन्तर से पात्रता पके बिना दूसरा कितना ही समझाने का यत्न करे, इन गुत्थियों का सुलझना सम्भव नहीं। पृष्ठ-९४

(९०)

जिसप्रकार खाद से युक्त जुते हुए तैयार खेत में डाला गया बीज यथासमय शीघ्र उगता है, बढ़ता है, फलता है और पूर्णता को प्राप्त होता है; उसीप्रकार पात्र जिज्ञासु जीव को दिया गया तत्त्वोपदेश ऊपर भूमि में पड़े हुए बीज के समान व्यर्थ नहीं जाता, सार्थक और सफल होता है। पृष्ठ-९४

(९१)

यद्यपि पदार्थों के बीच का अन्तर जानना भेद-विज्ञान है, तथापि जिन पदार्थों के बींच भेद-विज्ञान किया जा रहा है, उनमें एक निज तंत्त्व होना आवश्यक है। यही कारण है कि भेद-विज्ञान को स्वपर-विवेक भी कहते हैं।

स्व और पर के बीच का भेद जानना वास्तविक भेद-विज्ञान है - मात्र दो पदार्थों के बीच का अन्तर जानना नहीं। पृष्ठ-९४

(९२)

भेद-विज्ञान निज और पर के बीच किया जाता है, दो पर-पदार्थों के बीच नहीं। पृष्ठ-९५

(९३)

निज और पर के बीच की सीमा-रेखा जानना भेद-विज्ञान नहीं; बल्कि पर से भिन्न निज को जानना ही भेद-विज्ञान का रहस्य है। पृष्ठ-९५

(९४)

पर से भिन्न निज को जानने से क्या मतलब? क्या पर को नहीं जानना है; मात्र पर से भिन्न निज को जानना है?

पर को जानना है, पर उसे मात्र जानना — उसमें जमना नहीं, रमना नहीं, उसमें डटना नहीं; उससे हटना है। जबकि निज को जानकर उसमें जमना भी है; रमना भी है, उसी में समा जाना है। अपने में ही समा जाना भेद-विज्ञान का फल है। पर को भी जानना है, पर उसकी गहराई में नहीं जाना है। निज को जानना भी है और उसकी गहराई में भी जाना है।

क्यों?

क्योंकि पर को जानना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। निज को जानना, मानना, निज में ही जमना, रमना आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है। पर को तो मात्र इसलिए जानना है कि पर को निज न मान लिया जाए। अत: निज को तो, निज को जानने के लिए जानना ही है, परन्तु पर को भी निज को जानने के लिए जानना है। निज को जानना मूल प्रयोजन है, क्योंकि निज को जानने

में ही अपना हित है। पर को, जानो तो ठीक, न जानो तो ठीक, जब आत्मा का 'जानना' स्वभाव है तो पर भी जानने में आ ही जाता है। पृष्ठ-९५-९६

(९५)

जिसप्रकार रामकथा मूल कथ्य है और केवटकथा प्रासंगिक; उसीप्रकार आत्मार्थी का मूलज्ञेय निजात्मा है, शेष सब प्रासंगिक। पृष्ठ-९६

(९६)

जिसप्रकार राम के भगत का मूल प्रयोजन रामकथा है, उसीप्रकार आत्मार्थी का अपने आत्मा को जानना, पहिचानना मूल प्रयोजन है। पृष्ठ-९७

(९७)

पहिचानने में जो गहराई है, वह जानने में कहाँ ? जानना सामान्य जानकारी है और पहिचानने में श्रद्धान भी शामिल है। वस्तुतः सम्यक्श्रद्धान ही सच्ची पहिचान है। पृष्ठ-९८

(९८)

आत्मा के प्रति अरुचि ही अनन्त क्रोध है। पृष्ठ-९९

(९९)

आत्मा की चर्चा औरों की चर्चा मानता है, इसीलिए अरुचि बताता है; यदि उसे उसमें अपनत्व आ जाए, उससे एकत्व स्थापित हो जाए तो फिर उसे यही चर्चा अच्छी लगने लगेगी। पृष्ठ-९९

(१००)

जब आत्मा में एकत्व आ जाएगा, तब उसे आत्मा-आत्मा ही सर्वत्र दिखेगा। पृष्ठ-९९

(१०१)

आत्म-रुचिवान आत्मार्थी-जीव निज को तो निज को जानने के लिए जानता ही है, परन्तु पर को भी जितना जानना चाहता है, उसके मूल में भी आत्मा के विभावादि को जानना ही रहता है। पृष्ठ-९९

(१०२)

कम ही सही ! सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं होती। जौहरी अधिक ग्राहकों की चिन्ता नहीं करता, उसके लिए एक-दो ग्राहक ही बहुत हैं। जवाहरात के ग्राहक कम हैं तो क्या जौहरी बाजार में ही न बैठे ? यह कहाँ की बात कही ? बाजार में तो बैठना ही पड़ता है, चाहे ग्राहकी कम हो या अधिक। इसीप्रकार उपदेश तो सभा में ही होता है, चर्चा भले ही घर में हो जाए। दूसरी बात यह भी तो है कि न मालूम कौन जिज्ञासु कहाँ बैठा हो? जब हमें बोलने का भाव आता है तो अवश्य ही इस बात को समझने वाले कुछ न कुछ लोग रहते ही होंगे। पृष्ठ-१००

(१०३)

भौतिकवादी भोग के सागर के बीच हम बड़वाग्नि के समान जल रहे हैं, डंके की चोट आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, हजारों की भीड़ में आत्मा का प्रतिपादन कर रहे हैं। क्या हमारी शक्ति और सत्ता के लिए इतना काफी नहीं है? तथा भोग के सागर में आने वाली बाढ़ को भी हमारी इस अध्यात्मधारा ही ने रोक रखा है, अन्यथा न जाने यह दुनिया इसमें कब की बह गई होती !

हमारी अध्यात्म चर्चा निरर्थक नहीं, पूर्ण सार्थक है। जगत में जो कुछ भी श्रेय विद्यमान है, अच्छाइयाँ कायम हैं, वे सब इसी अध्यात्मधारा के अविरलप्रवाह का ही परिणाम हैं। पृष्ठ-१०१-१०२

(१०४)

जब किसी व्यक्ति को कहीं से अधिक लाभ की आशा बँध जाती है तो उसका चिन्तन प्रायः उसी दिशा में चलता रहता है। तदर्थ वह नई-नई योजनाएँ बनाता है। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए हर संभव प्रयत्न करता है। यदि उसमें विघ्न देखता है तो उन्हें दूर करने का यत्न भी करता है और जबतक सफलता नहीं मिलती, उस दिशा में सक्रिय बना ही रहता है। पृष्ठ-१०३

(१०५)

सर्वत्र इसप्रकार के कुछ-न-कुछ लोग अवश्य पाये जाते हैं, जिन्हें दूसरों का बढ़ना नहीं सुहाता। दूसरों के द्वारा जो महान काम होते हैं, वे तो उन्हें अच्छे

लगते हैं, पर उनके कारण जो उन कार्यों के करने वालों को सम्मान मिलता है, वह उन्हें बरदाशत नहीं होता। मानव की यह मनोवैज्ञानिक कमजोरी है।

पृष्ठ-१०५

(१०६)

जिसप्रकार मकान को बनाने के लिए जितना श्रम और समय लगता है, उसे गिराने में उसका शतांश भी श्रम एवं समय नहीं लगता; उसीप्रकार किसी भी अच्छे कार्य को करना जितना कठिन एवं श्रमसाध्य है, बिगाड़ना उतना ही सरल एवं सहज है।

पृष्ठ-१०७

(१०७)

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो न विधवाओं का ही विवाह होना चाहिए और न कुमारियों का ही। अध्यात्म तो यहाँ तक कहता है कि जिनकी शादियाँ हो गई हों, उन्हें भी स्त्री-संग छोड़ देना चाहिए।

पृष्ठ-१०८

(१०८)

जब कोई आदमी अत्यन्त पवित्रभाव से बिना किसी स्वार्थ के किसी अच्छे काम को करता है और उस कार्य में सफलता मिलती है, प्रोत्साहन मिलता है, यश मिलता है और जिस पावन उद्देश्य से उसने कार्य आरम्भ किया था, यदि उसमें कुछ उन्नति प्रतीत होती है तो उसका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगता है। उत्साह के बढ़ने से कार्य को भी गति मिलती है और ऐसा लगने लगता है कि अब सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में कुछ देर नहीं। किन्तु 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' की नीत्यनुसार जब उसके उन कार्यों में विघ्न पड़ने लगता है; उस पवित्र कार्य के कारण भी जब उसे अपयश मिलने लगता है, उस पर अवांछित शक किये जाने लगते हैं, उसे बदनाम किया जाने लगता है तो उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ने लगता है। उसके हृदय में एक वितृष्णा का भाव जगने लगता है। यद्यपि वह कार्य अच्छा भी हो, तथापि उस कार्य के प्रति उसके हृदय में एक अरुचि-सी उत्पन्न हो जाती है। वह सोचने लगता है — यहाँ तो होम करते हाथ जलते हैं।

पृष्ठ-११४

(१०९)

आत्मार्थी का काम झगड़ा करना नहीं है। पृष्ठ-११५

(११०)

खून का धब्बा खून से नहीं धुलता — उत्तेजना, उत्तेजना से शान्त नहीं होती। हमें शान्त रहना चाहिए, समय सबकुछ ठीक कर लेगा। पृष्ठ-११५

(१११)

इसमें कायरता की कोई बात नहीं है और न हताश होने का कोई प्रश्न ही है। क्या नहीं लड़ना कायरता है और लड़ना वीरता ? यदि वीरता झगड़ालूपन का ही नाम है और शान्तिप्रियता का नाम कायरता है तो मैं कायर ही भला; ऐसी वीरता मुझे नहीं चाहिए। तत्त्व का प्रचार लड़कर नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-११५-११६

(११२)

कुछ नहीं, सिर्फ लड़ना नहीं चाहता। यह भी नहीं चाहता मेरे नाम पर और कोई लड़े; तत्त्व के नाम पर भी संघर्ष चले, यह भी मुझे स्वीकार नहीं। इससे सामाजिक एकता भंग होगी। यदि समाज संगठित नहीं रहा तो बहुत हानि होगी। अत: आप सबसे मेरा यही निवेदन है कि आप सब शांत रहें। उत्तेजित वातावरण में अग्नि में घी डालने का काम न करें। सबकुछ समय पर ठीक हो जायगा। पृष्ठ-११६

(११३)

एकता का रास्ता प्रेम का रास्ता है, संघर्ष का नहीं। पृष्ठ-११७

(११४)

सत्य की कीमत पर नहीं, सत्य को रखकर। सत्य इतना कमजोर नहीं होता कि दो-चार कार्यक्रम अस्त-व्यस्त होने से नष्ट हो जाए, छिप जाए। संगठन से सत्य बहुत मजबूत होता है। संगठन जितने जल्दी टूटता है, उतने जल्दी सत्य नहीं। सत्य टूटता ही नहीं, वह तो अटूट होता है।

तुम उतावली न करो, मैं सत्य का उद्घाटन भी करूँगा और संगठन भी कायम रखूँगा। मेरे द्वारा न सत्य की कीमत पर संगठन होगा और न संगठन की कीमत पर सत्य ही छोड़ा जाएगा। धर्म के लिए सत्य जरूरी है और समाज के लिए संगठन। अत: धार्मिक समाज का काम है कि वह सत्य का आश्रय ले और संगठन को भी बनाए रखे। विघटन समाज को समाप्त कर देता है और असत्य धर्म को। दोनों की ही सुरक्षा आवश्यक है। पृष्ठ-११८

(११५)

जो मात्र बाहरी सक्रियता से ही बँधते हैं, उन्हें बाँधने से भी क्या होगा? जो तत्त्व से बँधेगा, वही वास्तविक साथी होगा। तत्त्वदृष्टि की एकरूपता ही वास्तविक वात्सल्य उत्पन्न करती है। पृष्ठ-११८

(११६)

आरम्भ में जब सत्य बात का विरोध होता है तो कुछ समय को ऐसा लगने लगता है कि यह बात अधिक चलेगी नहीं, दब जावेगी। तीव्रतम विरोध के कारण जब सत्य के प्रचार की गतिविधियाँ कुछ दब-सी जाती हैं या कुछ दिनों को बन्द हो जाती हैं तो यह भी लगने लगता है कि यह बात समाप्त हो गई है, अब इसके उभरने का कोई अवसर नहीं।

पर यह सब स्थिति क्षणिक होती है। वस्तुत: होता तो यह है कि दबाने से सत्य अपनी शक्ति और सन्तुलित तैयारी के साथ तेजी से उभरता है इसलिए तो कहा जाता है कि विरोध प्रचार की कुंजी है।

वस्तुत: विरोध से होता यह है कि वह बात विरोधियों के माध्यम से उन लोगों तक भी पहुँच जाती है, जिनके पास प्रचारकों के माध्यम से पहुँचना सम्भव नहीं होता; क्योंकि जहाँ प्रचारकों के प्रवेश व पहुँच नहीं होती, वहाँ विरोधियों की होती है। पृष्ठ-१३८

(११७)

जो पक्ष अपनी अन्तर की प्रेरणा से खड़ा होता है, वह तो अमिट होता है; किन्तु जो बाहर से खड़ा किया जाता है, उसके पैरों में इतनी शक्ति और सामर्थ्य नहीं होती जो अधिक टिक सके। पृष्ठ-१४०

(११८)

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी है। सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं। जहाँ एक ओर वे आत्मतत्त्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते। उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जनसामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती। पृष्ठ-१४२

(११९)

एक आत्मा ही उपादेय है, वास्तविक अर्थों में एकमात्र वही ध्येय है, वही ज्ञेय है, वही आराध्य है; और समस्त जगत हेय है, अध्येय है, अज्ञेय है, अनाराध्य है। आत्मार्थी का एकमात्र कर्त्तव्य समस्त जगत पर से दृष्टि हटाकर एकमात्र त्रैकालिक ध्रुव निजशुद्धात्मतत्त्व पर ही दृष्टि केन्द्रित करना है। अतीन्द्रिय सुख और आत्मशान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है।

पृष्ठ-१४२

(१२०)

जबतक पर-पदार्थों में फेर-फार करने की बुद्धिपूर्वक परोन्मुखी प्रवृत्तियाँ रहेंगी तबतक सत्य को प्राप्त करना तो बहुत दूर, उसके निकट पहुँचना भी संभव नहीं है। पृष्ठ-१४३

(१२१)

शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम सत्य के साथ यह भी एक तथ्य है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, उसे अपने परिणमन में पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। फिर भी अज्ञानी आत्मा व्यर्थ ही पर के सहयोग की आकांक्षा से व्याकुल होता है। सत्य की प्राप्ति स्वयं से, स्वयं में, स्वयं के द्वारा ही होती है, उसमें पर की कुछ भी नहीं चलती। पर तो निमित्त मात्र है।

पृष्ठ-१४३

(१२२)

समझ अन्दर से आती है, बाहर से नहीं। पृष्ठ-१४४

(१२३)

वस्तुस्थिति यह है कि श्रद्धा में यह सत्य स्वीकृत हो जाने पर भी वर्तमान भूमिका में ज्ञानी को भी समझाने का भाव आए बिना नहीं रहता। यदि उसी समय किसी को अपने कारण अन्तर से कोई बात समझ में आ जाती है तो ज्ञानी को प्रसन्नता तो होती है, पर उसे समझा देने का अभिमान नहीं तथा यदि अन्य किसी को समझ में नहीं भी आता है तो ज्ञानी उसी श्रद्धा के बल से विशेष आकुलित भी नहीं होता।

उपयुक्त श्रद्धा होने पर भी जबतक पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती, तब तक समझाने का भाव भी आए बिना रहता नहीं। यह उस समय की पर्याय की सत्ता का सत्य है।

स्वभाव अविकृत होने पर भी पर्याय में विकृति विद्यमान है। श्रद्धा ने स्वभाव को ग्रहण किया है और वाणी में पर्याय की विकृति (राग) निमित्त है। रागनिमित्तक होने पर भी ज्ञानी की वाणी, श्रद्धा और ज्ञान की अनुसरण करने वाली होने से सत्य की प्रतिपादक है।

ज्ञानी को समझाने का राग है, अतः समझाने की क्रिया देखी जाती है। और अन्तर में सत्य श्रद्धा एवं समझ है; अतः वाणी में यह सत्य प्रतिपादित होता है कि कोई किसी को समझा नहीं सकता। पृष्ठ-१४४

(१२४)

जब कोई व्यक्ति किसी ज्ञानी महापुरुष के ज्ञान और वैराग्य-रस से सराबोर प्रवचनों को सुनकर, उसके समुचित सदाचार और गंभीर व्यक्तित्व को देखकर सीमातीत प्रभावित हो जाता है तो उसे उसमें इतनी ऊँचाई एवं महानता दिखाई देने लगती है, जितनी कि उस भूमिका में सम्भव ही नहीं है। पृष्ठ-१४७

(१२५)

राग और वीतरागता में तो विरोधाभास है, पर अंशे राग और अंशे वीतरागता की एक आत्मा में एक साथ सत्ता होने में कोई विरोधाभास नहीं है अर्थात् वे एक ही आत्मा में एक साथ पाये जा सकते हैं। पृष्ठ-१५०

(१२६)

कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो जगत-जन की स्थूल बुद्धि में सहज समझ में नहीं आतीं, उन्हें उसमें विरोधाभास-सा नजर आता है। वस्तु में कोई विरोध नहीं होने पर भी जब उन्हें अपने अज्ञान के कारण विरोधाभास दिखाई देता है तो वे वस्तुस्वरूप के बजाय वक्ता पर अविश्वास-सा करने लगते हैं; किन्तु ज्ञानी वक्ता द्वारा सयुक्ति खोल-खोलकर समझाये जाने पर उनकी समझ में बात कुछ जमने लगती है तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है। पृष्ठ-१५३

(१२७)

वाह क्या अनोखा सत्य है, क्या अनोखा तथ्य है। अव्रती और व्रती ज्ञानी के भूमिकानुसार पर्याय में रागांश विद्यमान रहने पर भी, वह उन्हें उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता। उपादेय और विधेय नहीं मानने पर भी, नहीं चाहने पर भी, भूमिकानुसार पर्याय में राग आता ही है, टलता नहीं। यह कैसी विचित्र स्थिति है। विचित्र है, पर है। पृष्ठ-१५३

(१२८)

निमित्त होता है, पर करता नहीं; करता नहीं; पर होता है। राग होता है, पर उपादेय नहीं; उपादेय नहीं, पर होता है। पृष्ठ-१५३

(१२९)

यह अध्यात्म सभी रोगों को मेटने वाला महारोग और जगत के सभी चक्करों से बचाने वाला चक्कर है। पृष्ठ-१५५

(१३०)

जब मन मुदित होता है; तब गीत, संगीत, नृत्य और काव्य सभी फूट पड़ते हैं। पृष्ठ-१५५

(१३१)

ज्ञानी गृहस्थों और साधुओं में इतना ही अन्तर पड़ता है कि मुनिराज उग्र पुरुषार्थी होते हैं; अतः वे वन में वास करते हैं और गृहस्थ घर में रहता है, पर तत्त्वचिन्तन तो गृहस्थ भी वैसा ही करता है, जैसा कि मुनिराज। हाँ, यह बात अवश्य है कि गृहस्थों के वह गहराई कहाँ, जो मुनिराजों के चिन्तन में पाई जाती है। पृष्ठ-१५६

(१३२)

श्रद्धा में ऐसी पक्की श्रद्धा होने पर भी कि हँसना-रोना सब राग-द्वेष के खेल हैं; अतः ये उपादेय नहीं, ज्ञानी के भी रोना-हँसना होते ही हैं और बाहर में तद्नुकूल निमित्त भी होता ही है। उसे कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। पृष्ठ-१५८

(१३३)

संयोग के अनुसार राग का निर्णय नहीं होता तथा राग के अनुसार श्रद्धा का निर्णय नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-१५९

(१३४)

क्रान्ति में अच्छाइयों के साथ-साथ कुछ अनिवार्य बुराइयाँ भी होती हैं; क्योंकि क्रान्ति की लहर में अच्छे-बुरे सभी शामिल हो जाते हैं। क्रान्ति के तूफान के वेग में बहे बहुत से अनगढ़ लोग भी प्रवक्ता बन जाते हैं, उनमें जोश तो बहुत होता है, पर होश कम। इसकारण अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। पृष्ठ-१६०

(१३५)

भीड़ की मनोवृत्ति बड़ी विचित्र होती है। वह तो जहाँ मुड़ गई सो मुड़ गई। सत्य की बात तो बहुत दूर, भीड़ तथ्यों की तह में भी नहीं जाती; यही कारण है कि वह प्रचार का शिकार हो जाती है।

यह युग भी विज्ञापन का युग है। जिस वस्तु का विज्ञापन जोरदार हो गया, वह चल निकलती है; जिसका विज्ञापन नहीं हो पाता, उसे कोई नहीं पूछता। आज वस्तु की अच्छाई की अपेक्षा विज्ञापन का महत्त्व कहीं अधिक हो गया है। अच्छी वस्तु भी बिना विज्ञापन के नहीं चल पाती; जबकि नकली माल विज्ञापन के बल पर चल निकलता है।

चटपटे विज्ञापन के बिना मधुरतम मिष्ठान्न भी जिस भाव नहीं बिक पाता; चटपटे चने बेचनेवाला वाचाल व्यक्ति सामान्य चनों में नमक-मिर्च लगाकर तथा कुछ नमक-मिर्च अपनी वाणी में लगाकर उसी भाव बेच जाता है। उनकी वास्तविक कीमत कोई नहीं देखता, लोग खुशी-खुशी खरीदते हैं और मजे ले-लेकर खाते भी हैं। पृष्ठ-१६७

(१३६)

एक झूठ को सौ बार दुहरा जाइये, सच-सा लगने लगता है। पृष्ठ-१६७

(१३७)

स्वयं शान्त रहने वालों की शांति को भंग कौन कर सकता है ? कोई हमारी शान्ति भंग करदे, तब जानें ? तुम स्वयं अन्दर से अशान्त हो रहे हो और स्वयंकृत अशान्ति के दोष को दूसरे के माथे मड़ना चाहते हो, ऐसी अनीति अध्यात्म में तो संभव है नहीं।

अन्तर से शान्त रहने वालों की शान्ति को भंग करने की शक्ति तो किसी में है ही नहीं। सारा लोक भी उलट जाए तो भी उसकी शान्ति में भंग नहीं पड़ सकता। पृष्ठ-१७६

(१३८)

सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं; प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही, यदि पुरुषार्थ करे तो पर्याय में भी भगवान बन सकता है, पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करे तब। पृष्ठ-१७७

(१३९)

यह प्राणी अन्तर की ओर तो झाँकता नहीं, पर की उधेड़-बुन में ही लगा रहता है। यह अखण्ड अनन्त शक्ति का भंडार ऐसा जो अपना आत्म-स्वरूप, उसकी ओर तो देखता नहीं और इसकी दृष्टि दोषों को देखने में उलझी रहती है। दोष भी यह अपने नहीं देखता, दूसरों के देखता है; इसलिए अनन्त दुःखी और अशान्त बना रहता है। पृष्ठ-१७७

(१४०)

भाई ! अपने सुख-दुःख के कारण अपने में हैं, दूसरों में नहीं, उन्हें अपने में खोजो, दूसरों में नहीं। अनादि से यह आत्मा अपनी भूलों से ही दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है। पर जबतक यह अपने दुःख का कारण पर में खोजता रहेगा, तबतक सुखी होना तो दूर, सुख का मार्ग भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। पृष्ठ-१७७

(१४१)

अपने को जाने-पहिचाने, अपने में ही जम आए, रम जाए, समा जाए, तल्लीन हो जावे तो भगवान बन जाए; पर ऐसा करे तब न। पृष्ठ-१७७

(१४२)

हम साधुओं के पास अध्यात्म की बात के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है? पृष्ठ-१७८

(१४३)

साधु भी कहीं आदेश निकालते हैं, वे तो परहित की भावना से मात्र उपदेश ही देते हैं, वह भी उनका मुख्य कार्य नहीं है, मुख्य कार्य तो ध्यान और अध्ययन है।

जब साधु आदेश ही नहीं देते हैं तो फिर बहिष्कार के आदेश का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है? पृष्ठ-१७८

(१४४)

जब हमारी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु खो जाती है और सहज खोजने पर भी प्राप्त नहीं होती है तो हम उसे वहाँ भी खोजने लगते हैं, जहाँ कि उसके होने

की सम्भावना भी नहीं होती है। इसलिए तो कहा जाता है कि 'खोई हुई थाली को लोग गागर में भी खोजते हैं।' पृष्ठ-१८०

(१४५)

आत्मा समझे बिना सारा क्रिया-कांड बेकार है, अंक के बिना शून्य के समान शून्य है। आत्मा और परमात्मा की पहचान बिना किया जाने वाला पूजा-पाठ धर्म नहीं, ढोंग है। जो साधु आत्मध्यान और अध्ययन-मनन-चिन्तन को छोड़कर जगत प्रपंचों में उलझे रहते हैं; वे साधु नहीं, पाखण्डी हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन एकदम स्वाधीन है, कोई किसी के आधीन नहीं। अपने सुख-दु:ख के कर्त्ता सब जीव स्वयं हैं, कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। पृष्ठ-१८३

(१४६)

भगवान भी जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। वह किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं। विषयों की आशा से भगवान की भक्ति करने वाला भगवान का भक्त नहीं, भोगों का भिखारी है, भिखारी। पृष्ठ-१८३

(१४७)

नहीं करते तो मत करने दो, इनके नमस्कार कर लेने से हमें कोई मोक्ष नहीं मिल जायेगा और नहीं करने से हमारा मोक्ष रुक नहीं जावेगा। हम उनसे नमस्कार कराने के लिए साधु थोड़े ही हुए हैं। हम तो अपने आत्म-कल्याण के लिए गृह-त्यागी बने हैं, हमें अब फिर इन प्रपंचों में न उलझाओ।

पृष्ठ-१८४

(१४८)

सफलता संगठन और असफलता विघटन की जननी है। जब किसी काम में एक के बाद एक सफलताएँ मिलती चली जाती हैं तो हमारा उत्साह बढ़ जाता है और अनेक लोग हमारे साथ हो जाते हैं, कार्यकर्त्ताओं का मनोबल बढ़ता है, उनमें एक नई उमंग जागृत हो जाती है। नए-नए लोगों के शामिल होते जाने से जहाँ संगठन विशाल रूप धारण करने लगता है, वहीं उसमें दृढ़ता

का विकास भी होता है; किन्तु जब किसी संगठन को असफलता का सामना करना पड़ता है तो उसमें दरारें पड़ने लगती हैं। उसके सदस्य एक-दूसरे से कतराने लगते हैं, परस्पर एक-दूसरे की आलोचनाएँ ही नहीं करते, वरन् असफलता का दोष भी एक-दूसरे के सिर मढ़ने लगते हैं। यह आरोप-प्रत्यारोप का सिलसिला यहाँ तक चलता है कि स्थिति कभी-कभी विघटन के कगार तक भी पहुँच जाती है। पृष्ठ-१८६

(१४९)

जिनकी होनहार ही खोटी होती है, उन्हें असत्कर्म से कोई भी विरत नहीं कर सकता; क्योंकि उनकी बुद्धि भी तो वैसी ही हो जाती है जैसी कि उनकी होनहार होती है। उन्हें सलाह देने वाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। मिल क्या जाते हैं; वैसी ही सलाह देने वालों के पास वे स्वयं जाते हैं, यदि कोई सही सलाह देवे भी तो वे उसकी मानना तो बहुत दूर, सुनते भी नहीं हैं।

वस्तुतः बात यह है कि जो कार्य होना होता है, उसके लिए सम्पूर्ण कारण भी वैसे ही सहज मिल जाते हैं। इसप्रकार वह कार्य सम्पन्न हो के ही रहता है। पृष्ठ-१९२

(१५०)

यह सारी दुनिया ही तो धोखा है, धोखे का नाम ही तो दुनिया है, संसार है। माया के अतिरिक्त और संसार है ही क्या ? पृष्ठ-१९६

(१५१)

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है; और जहाँ अविवेक है वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है, पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है। यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है। पृष्ठ-१९९

(१५२)

भाई ! अनिर्वचनीय प्रयोग को वचनों में कैसे व्यक्त करूँ? निर्विकल्पक अनुभूति को विकल्पों में कैसे बाँधूँ? आत्मानुभूति तो करने की चीज है, व्यक्त करने की नहीं। आत्मानुभूति तो ध्यान की अवस्था में प्राप्त होने वाली दशा है। यह दशा, दशा प्रकट करने के विकल्प से, दशा के लक्ष्य से प्राप्त नहीं होती; यह दशा तो दशा पर से दृष्टि हटाकर जिस स्वभाव में से यह दशा प्रकट होती है, उसका लक्ष्य करने से प्रकट होती है। पृष्ठ-२००

(१५३)

अरे भाई ! आत्मा विकल्पमय नहीं, विकल्पातीत है। पर ध्यान के प्राथमिक प्रयत्न में अनाड़ियों को ऐसा लगता अवश्य है, क्योंकि परलक्षी आत्माओं में विकल्पों के जाल तो निरन्तर ही उठते रहते हैं; किन्तु जब उनका उपयोग अन्यत्र होता है तो उनकी सत्ता का आभास नहीं होता, जब कभी वह अन्तर में झाँकने का यत्न करता है तो विकल्पजाल ज्ञान के ज्ञेय बनने लगते हैं। उसकी दृष्टि में इतनी तीक्ष्णता तो होती नहीं कि वह विकल्पों के पर्त को भेदकर उनके पीछे छिपी आत्मज्योति का साक्षात्कार कर सके। वह स्थूलदृष्टि विकल्पों के जाल को देखकर ही घबड़ा-सा जाता है और अन्तर में झाँकने के प्रयत्नों को भी छोड़कर फिर व्यवहार में उलझ जाता है। पृष्ठ-२०१

(१५४)

तो क्या हम लोग उस आत्मा की अनुभूति कर ही नहीं सकते हैं?

क्यों नहीं? अवश्य कर सकते हो। तुम ही क्या, प्रत्येक आत्मा अपने में स्वयं परिपूर्ण है। स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी परिपूर्ण तत्त्व है ही, पर्याय में भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे पर की ओर झाँकने की आवश्यकता नहीं — यह स्वयं अपनी भूल से दु:खी है और स्वयं अपनी

भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है। प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवानस्वरूप है और यदि पुरुषार्थ करे तो भगवानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने में भी समर्थ है। पृष्ठ-२०१

(१५५)

अन्यथा प्रयत्न करके सफलता चाहो तो कहाँ से मिलेगी ? पृष्ठ-२०१

(१५६)

अनेक कारणों में एक निमित्तकारण भी कहा जाता है। कार्योत्पत्ति में उसकी भी उपस्थिति अनिवार्य है। तत्त्व की प्राप्ति के पूर्व देशनालब्धि भी होती है। पर उपदेश तो सभी सुनते हैं, जिसका काल पक जाता है, जिसकी होनहार ठीक होती है, जो सही दिशा में सही पुरुषार्थ करता है, वह उद्यमी पुरुष सफल होता है, बाकी तो सब यों ही चलता रहता है। पृष्ठ-२०२

(१५७)

भाई तुम्हारी होनहार ठीक लगती है, तुम्हारा काल पक गया लगता है, तभी तो तुम्हें अनुभूति प्राप्त करने की इतनी तीव्र जिज्ञासा जगी है, तभी तो तुम उसके बारे में बार-बार पूछते हो, चर्चा करते हो, विचार करते हो, मन्थन करते हो, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हो। पृष्ठ-२०२

(१५८)

हमें आत्मानुभव होता क्यों नहीं ? जितनी कचास है, जितनी पुरुषार्थ में उग्रता की कमी है; उतनी ही देर है, भवितव्य भी ऐसा ही है। लगता है अब अधिक काल शेष नहीं है, चिन्ता न करो। तुम्हारी यह रुचि की तीव्रता ही बताती है कि अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। पृष्ठ-२०२

(१५९)

अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा को अनुभूति प्राप्त करने की भी आकुलता क्यों, व्याकुलता क्यों ? लगता है यही तेरी कचास है। पृष्ठ-२०२-२०३

(१६०)

विकल्प-तरंगें अब और अधिक मत उठाओ; विकल्पों के पार झाँकने का यत्न करो, यत्न करने का भी तनाव मत रखो, सहज यत्न होने दो। कुछ करो

नहीं, बस होने दो, जो हो रहा है, बस उसे होने दो। फेर-फार का विकल्प तोड़ो, सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ। बन क्या जाओ, तुम तो सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हो। यह तनाव, यह आकुलता, यह व्याकुलता तुम हो ही नहीं।पृष्ठ-२०३

(१६१)

है तो रहने दो, तुम्हें उससे क्या ? तुम तो पर्याय नहीं हो, तुम तो परिपूर्ण हो। तुम तो वह हो — जिसमें से पर्यायें आती हैं, जाती हैं। तुम्हें उनसे क्या? वे तो आनी-जानी हैं। तुम तो ध्रुव हो, स्थायी हो...... हो,...... हो; तुम्हें होना नहीं है। तुम तो हो, हो...... हो...... सिर्फ हो...... ' पृष्ठ-२०३

(१६२)

नहीं, देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो। रमो भी नहीं, जमो भी नहीं; रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज, जानना सहज, देखना सहज, जमना सहज, रमना सहज। कर्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो। पृष्ठ-२०३

(१६३)

आत्मानुभवी सत्पुरुषों के सम्पर्क में आकर शुद्धात्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्रों को पढ़कर आत्मा की चर्चा-वार्ता करना अलग बात है और शुद्धात्मा का अनुभव करना अलग।

अधिकांश जगत तो गतानुगतिक ही होता है। जो जिसप्रकार के वातावरण में रहता है; उसीप्रकार की बातें करने लगता है, व्यवहार करने लगता है; परन्तु वस्तु की गहराई तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं, अधिकांश तो हाँ-में-हाँ मिलानेवाले और ऊपर से वाह-वाह करने वाले ही होते हैं।

जो लोग तत्त्व की गहराई तक पहुँच जाते हैं, उन्हें तो परमतत्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है, किन्तु जो अपनी स्थूल बुद्धि के कारण परमतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं; उन्हें भी इतना लाभ तो होता ही है कि वे जगत के वासनामय, कषायमय विषाक्त वातावरण से तो बहुत-कुछ बचे रहते हैं; उनका जीवन सहज सात्विक बना रहता है, परिणामों में भी निर्मलता बनी रहती है।

तथा यदि अच्छी होनहार हो तो काल पाकर उनका भी पुरुषार्थ जागृत हो जाता है और आज नहीं तो कल वे भी निजतत्त्व तक पहुँच ही जाते हैं।
पृष्ठ-२०५

(१६४)

आत्मानुभव सिखाया नहीं जाता, किया जाता है। पृष्ठ-२१०

(१६५)

कक्षायें ज्ञान की लग सकती हैं, ध्यान की नहीं। ध्यान तो एकदम व्यक्तिगत चीज है। पृष्ठ-२११

(१६६)

मार्ग अन्तर की रुचि में से ही मिलेगा, पर के भरोसे कुछ नहीं होगा।
पृष्ठ-२११

(१६७)

सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एक आत्मा में ही दृष्टि केन्द्रित कर देने में जीवन की सार्थकता समझने वाले आत्मार्थीजन एक तो सहज ही सांसारिक गतिविधियों से अलिप्त रहते हैं, अपरिचित रहते हैं, फिर जो गतिविधियाँ अत्यन्त गुप्तरूप से संचालित हों, आत्मार्थियों का उनसे बेखबर रहना तो स्वाभाविक ही है। पृष्ठ-२१२

(१६८)

जिनके मुख से सभी को 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद ही निकलता है, जिनकी वाणी से निरन्तर उपदेशामृत ही झरता है, वे कभी किसी के अधर्मी या विधर्मी होने का आदेश निकालेंगे — यह बात समझ में आने जैसी नहीं है। पृष्ठ-२१३

(१६९)

आत्महित करना है तो इन प्रतिकूल संयोगों में ही करना होगा। इन संयोगों को हटाना अपने हाथ की बात तो है नहीं। हाँ, हम चाहें तो इन संयोगों पर से अपना लक्ष्य हटा सकते हैं, दृष्टि हटा सकते हैं। यही एक उपाय है आत्महित करने का, अन्य कोई उपाय नहीं। पृष्ठ-२१५

(१७०)

उत्तेजनात्मक हथकण्डों की उम्र बहुत कम होती है। उत्तेजना में आदमी को अनंत प्रयत्नों के बाद भी बहुत देर तक रखा नहीं जा सकता है। जिसप्रकार पानी को बहुत देर तक गर्म रखा नहीं जा सकता है, वह निरन्तर शीतलता की ओर दौड़ता रहता है, यदि उसे अग्नि का संयोग देते रहकर निरन्तर गर्म रखने का प्रयास किया गया तो वह रहेगा ही नहीं, समाप्त हो जावेगा, भाप बनकर उड़ जावेगा। उसे यदि अधिक काल तक रखना है तो शीतल ही रखना होगा। गर्म रखने के लिए ईंधन भी चाहिए, पर ठण्डा रखने के लिए कुछ भी नहीं चाहिए। इसीप्रकार समाज को शान्त रखने के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं, पर उत्तेजित रखने के लिए निरन्तर प्रयास चाहिए। निरन्तर के प्रयासों से समाज को उत्तेजित रख पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, तथा यदि रखने का प्रयास किया गया तो अनेक समस्यायें उठ खड़ी होंगी, जिनसे समाज को बचाना सम्भव न होगा। पृष्ठ-२१६-२१७

(१७१)

आत्मोन्मुखी दृष्टि ही दूरदृष्टि है। पृष्ठ-२१८

(१७२)

इस भौतिक वादी जगत में जहाँ कि सभी लोग पंचेन्द्रियों के विषयों में उलझे हों, उन्हें ही जोड़ने में व्यस्त हों, भोगने में संलग्न हों; वहाँ भोगों से विरत करने वाली आध्यात्मिक ज्योति को जलाए रखना ही दुष्कर है, तो उसके प्रकाश से जन-जन को आलोकित कर देना कोई आसान काम नहीं है।

पृष्ठ-२१९

(१७३)

प्रपंचों में उलझे गृहस्थी की संगति साधु को पलमात्र भी नहीं करनी चाहिए। पृष्ठ-२२३

(१७४)

जब कोई व्यक्ति जीवन की बाजी लगाकर भी ऐसा कार्य करता है कि जिसके हो जाने पर उसे बहुत ही सुखद फल मिलने की आशा हो, मनोरथ

सफल हो जाने का पूरा-पूरा विश्वास हो; यदि उस दुष्कर कार्य को किसी भी प्रकार सम्पन्न कर लेने पर भी अनुकूल फल तो न मिले, उल्टी आलोचना होने लगे, लेने के देनै पड़ जावें तो उसका मानसिक सन्तुलन ही बिगड़ जाता है। पृष्ठ-२२६

(१७५)

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष का तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्व वाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं अडिग रहते हैं। पृष्ठ-२३३

(१७६)

हर काम लाभ के लिए ही नहीं किया जाता — कुछ काम प्रेम से, श्रद्धा से, भक्ति से भी किये जाते हैं। जिसने जिसके प्रति उपकार किया होता है, उसे उसके प्रति बहुमान का भाव आये बिना नहीं रहता। पृष्ठ-२३४

(१७७)

कौन किसका विरोधी है ? कोई किसी का शाश्वत विरोधी और मित्र नहीं होता। जो आज विरोधी लगता है, कल वही मित्र हो जाता है। जो मित्र है, उसे विरोधी होते क्या देर लगती है ? यह सब तो राग-द्वेष का खेल है, मिथ्यात्व की महिमा है; वैसे तो सभी आत्मा भगवानस्वरूप हैं। यह क्यों कहते हो कि विरोधी कमजोर हो गए हैं, यह कहो न कि उनका विरोध कमजोर हो गया है, अत: अब वे हमारे मित्र बन रहे हैं। हमें विरोधियों को नहीं, विरोध को मिटाना है। जब विरोध मिट जावेगा तो विरोधी ही मित्र बन जावेंगे। पृष्ठ-२३५

(१७८)

सबको प्रेम से गले लगाने में ही सच्ची विजय है। विरोधियों का बिखर जाना कोई विजय ही नहीं है, यह तो नकारात्मक पहलू है। विरोध का समाप्त हो जाना भी पूरी विजय नहीं है; अपितु सबका सत्य के प्रति, तत्त्व के प्रति प्रेम हो जाना ही सच्ची विजय होगी। पृष्ठ-२३५

(१७९)

क्रान्ति का वास्तविक लाभ तो शान्तिकाल में ही प्राप्त होता है। क्रान्ति में तो एक उत्तेजना रहती है। उसमें कुछ सोचने का, समझने का अवसर ही कहाँ प्राप्त होता है। क्रान्ति तो एक आँधी है, जो धूल उड़ाती आती है और सड़ी-गली पुरानी व्यवस्था उखाड़ती-पछाड़ती चली आती है। नई सही व्यवस्था तो शान्तिकाल में ही जमती है। यदि क्रान्तिं से सच्चा लाभ लेना है, तो क्रान्ति के बाद सहज प्राप्त होने वाले शान्तिकाल का सही उपयोग कर लेना ही बुद्धिमानी है। क्रान्ति में हृदय-पक्ष की प्रधानता रहती है, भावना-पक्ष प्रधान रहता है, पर शान्तिकाल में बुद्धि की परीक्षा की घड़ी आती है। क्रान्ति विध्वंस करती है और शान्ति निर्माण। पृष्ठ-२३६-२३७

(१८०)

किसी व्यक्ति का हृदय कितना ही पवित्र और विशाल क्यों न हो, किन्तु जबतक उसका कोई स्वरूप सामने नहीं आता, तबतक जगत उसकी पवित्रता और विशालता से परिचित नहीं हो पाता है। विशेषकर वे व्यक्ति जो किसी कारणवश उससे द्वेष रखते हों, तबतक उसकी महानता को स्वीकार नहीं कर पाते, जबतक कि उसका प्रबल प्रमाण उनके सामने प्रस्तुत न हो जावे। विरोध के कारण दूर रहने से छोटी-छोटी बातों में प्रगट होने वाली महानता तो उन तक पहुँच ही नहीं पाती है। जो कुछ पहुँचती भी है, वह तीव्र द्वेष में सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है। यदि किन्हीं को कभी किसी कार्य को देखकर ऐसा लगता भी है तो पूर्वाग्रह के कारण समझ में नहीं आती। तथा यदि समझ में भी आवे तो - इसमें भी, कोई न कोई राजनीति होगी - यह समझकर यों ही उड़ा दी जाती है, क्योंकि उनकी बुद्धि तो उसके दोष-दर्शन में ही सतर्क रहती है। पृष्ठ-२४०

(१८१)

किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए शान्ति और प्रेम का रास्ता यंद्यपि लम्बा रास्ता है, इसमें प्रतिद्वन्द्वी को नहीं, उसके हृदय को जीतना पड़ता है, जीत कर उसे समाप्त नहीं किया जाता, अपितु अपना बनाया जाता है; तथापि टिकाऊ और वास्तविक सफलता प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है। इसमें असीम धैर्य की आवश्यकता होती है। साधारण व्यक्ति में तो इतना धैर्य होता ही नहीं कि वह इतनी प्रतीक्षा कर सके — यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों द्वारा महान कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते। पृष्ठ-२४७

(१८२)

साधारण लोगों के हृदय में एक तो महान कार्य करने की भावना ही नहीं होती है; क्योंकि उनकी उन्नति की परिभाषा ही निजी आर्थिक उन्नति ही होती है। खाने-पीने, मौज उड़ाने तक ही उनकी प्रगति की मर्यादा रहती है। दूसरे यदि कदाचित् किसी को महान कार्य सम्पन्न करने की भावना हो तो उसके मूल में नाम का लोभ, यश का लोभ काम करता दिखाई देता है; और यही लोभ उसकी सफलता में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। किन्तु यश के लोभ से दूर रहने वाले महापुरुष अपनी दूरदृष्टि के कारण बड़े ही धैर्य से अपने लक्ष्य की पूर्ति में जुटे रहते हैं, राह में आने वाली बाधाओं से विचलित नहीं होते, निराश भी नहीं होते। पृष्ठ-२४७

(१८३)

साध्य की पवित्रता की भाँति वे साधन की पवित्रता में भी विश्वास रखते हैं। यही कारण है कि वे पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही करना चाहते हैं। मात्र चाहते नहीं, अपितु करते हैं। पृष्ठ-२४७

(१८४)

संगठन के लिए एक ऐसा व्यक्तित्व चाहिए जो सबको साथ लेकर चल सके और जिसके व्यक्तित्व पर लोग संगठित हो सकें। पृष्ठ-२४८

(१८५)

यह धर्म का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि लोग उसके नाम पर लड़ते हैं। धर्म तो कभी लड़ना नहीं सिखाता, पर लोग अपनी स्वार्थसिद्धि हैतु धर्म के नाम पर लड़ते हैं। लड़ाती कषाय है, स्वार्थ है; और बदनाम धर्म होता है। धर्म लड़ने का नाम नहीं, नहीं लड़ने का नाम है। पृष्ठ-२५०

(१८६)

सामाजिक संगठन और शान्ति बनाए रखना और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त प्रगतिशील समाज की स्थापना ही तो इस बहुमूल्य नरभव की सार्थकता नहीं है; इस मानव जीवन में तो आध्यात्मिक सत्य को खोजकर, पाकर, आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना ही वास्तविक कर्त्तव्य है।

आध्यात्मिक सत्य में भी पर्यायगत सत्य को जानना तो है, पर उसमें उलझना नहीं है, उसे तो मात्र जानना है; पर त्रैकालिक परमसत्य को, परमतत्त्व को मात्र खोजना ही नहीं है, जानना भी है, उसी में जमना है, रमना है, उसी में समा जाना है, उसीरूप हो जाना है। पृष्ठ-२५२

(१८७)

आध्यात्मिक परमसत्य, त्रैकालिक परमतत्त्व, ज्ञानानन्दस्वभावी, ध्रुव, आत्मतत्त्व — जिन्हें खोजना है, वे खोजें; जानना है, वे जानें; पाना है, वे पावें। जिन्होंने खोज लिया हो, पा लिया हो; वे उसी में जम जावें, रम जावें, समा जावें और अनन्त सुखी हों, शान्त हों। पृष्ठ-२५२



महावीर पूजन

जो तुमको नहिं जाने जिनेश, वे पावें भव-भ्रमण क्लेश।
वे माँगे तुमसे धन-समाज, वैभव पुत्रादिक राज-काज॥
जिनको तुम त्यागे तुच्छ जान, वे उन्हें मानते हैं महान।
उनमें ही निशदिन रहें लीन, वे पुण्य-पाप में ही प्रवीण॥

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

आप कुछ भी कहो

(१८८)

कथा-साहित्य साहित्य-क्षेत्र की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे अधिक सशक्त माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका है। पृष्ठ-१

(१८९)

सत्साहित्य का निर्माण परमसत्य के उद्घाटन के लिए किया जानेवाला महान कार्य है; अतः इसका पठन-पाठन भी परमसत्य की उपलब्धि के लिए गम्भीरता से किया जाना चाहिए; पर आज इसे मनोरंजन की वस्तु बना लिया गया है। पृष्ठ-२

(१९०)

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मात्र दर्पण नहीं; दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है, प्रेरक भी है। जो साहित्य प्रकाश न बिखेरे, मार्गदर्शन न करे, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा न दे; मात्र वर्तमान समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करे या मनोरंजन तक सीमित रहे, वह साहित्य साहित्य नहीं, साहित्य के नाम पर कलंक है। पृष्ठ-२

(१९१)

साधु पुरुषों को अपने व्यवहार और विकल्पों की सीमा को पहिचानना ही चाहिए। समाज और देश में उत्तेजना फैलानेवाले कार्य श्रमण भूमिका में तो अक्षम्य अपराध ही है। पृष्ठ-४

(१९२)

माँ, तेरे भरत का राग चाहे उसके वश की बात न हो; पर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान - विवेक धोखा नहीं खा सकता। भले ही भरत इस चक्रवर्त्तित्व

को छोड़ न सके, पर इसमें रहकर गर्व अनुभव नहीं कर सकता, इसमें रम नहीं सकता।

चक्रवर्त्तित्व भरत का गौरव नहीं; मजबूरी है, मजबूरी। पृष्ठ-५

(१९३)

कोरे शब्दों के संग्रह का नाम पाण्डित्य नहीं है, ज्ञान की गरिमा अनुभव से प्राप्त होती है। पृष्ठ-६

(१९४)

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। पृष्ठ-७

(१९५)

बहुत भ्रम में हो श्रेष्ठीराज! ऐसा कुछ भी नहीं है। किसी का चाहा कुछ भी नहीं होता। उसी भव से मोक्ष जाने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती को भी मुनि-अवस्था में सात सौ वर्ष तक यह कुष्ठ व्याधि रही थी, तो हमारी क्या बात है?

दूसरे, इसने क्या बिगाड़ा है हमारा, जो हम इसका अभाव चाहने लगें। हमने कुछ चाहने के लिए घर नहीं छोड़ा है, चाहना छोड़ने के लिये ही हम दिगम्बर हुए हैं। हमें इन विकल्पों में न उलझाओ। पृष्ठ-१०

(१९६)

कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता। पर इसमें दिगम्बरत्व के अपमान की बात कहाँ से आ गई? दिगम्बर धर्म आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। शरीर के विकृत होने से दिगम्बर धर्म का अपमान कैसे हो सकता है? पृष्ठ-१०

(१९७)

श्रेष्ठीवर, इतना धर्मानुराग भी ठीक नहीं कि उसके आवेग में आप सत्य का भी ध्यान न रखें। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता — यह दिगम्बर धर्म का अपमान नहीं, सर्वोत्कृष्ट सम्मान है; क्योंकि

वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। यह जन-जन की ही नहीं, बल्कि कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का महान उद्घोष है। पृष्ठ-११

(१९८)

सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं, और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। पृष्ठ-१३

(१९९)

धर्म तो वस्तु के स्वभाव का नाम है, उसमें फेरफार करने की बुद्धि ही मिथ्या है, अहंकार है, दुःख का कारण है, दुःखस्वरूप ही है। जगत के क्रमनियत परिणमन को ज्ञाता-दृष्टा भाव से स्वीकार कर लेना ही सम्यग्ज्ञान का कार्य है; उसमें हर्ष-विषाद उचित नहीं, आवश्यक भी नहीं। पृष्ठ-१४

(२००)

भगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। जो जगत को साक्षीभाव से अप्रभावित रहकर देख सकें, जान सकें; वस्तुतः वही भगवान है। भगवान बनने का उपाय भी जगत से अलिप्त रहकर, साक्षीभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना ही है। पृष्ठ-१४

(२०१)

किसकी भूमि? भूमि भूमि की है, यह आज तक न किसी की हुई है और न होगी। भवताप का अभाव तो स्वयं के आत्मा के दर्शन से होता है। दूसरों के दर्शन से आज तक कोई भवमुक्त नहीं हुआ और न कभी होगा। भवतापहारी तो पर और पर्याय से भिन्न निज परमात्मतत्त्व ही है। उसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है, उसके परिज्ञान का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और उसका ध्यान ही सम्यक्चारित्र है। अतः उसका जानना, मानना और ध्यान करना ही भव का अभाव करने वाला है। पृष्ठ-१४

(२०२)

हम नहीं; हमारी यह देह अवश्य कोढ़ी थी। हम तो देह-देवल (देवालय) में विराजमान भगवान आत्मा हैं। आप भी देह-देवल में विराजमान आत्मा ही हैं। मन्दिर के विकृत हो जाने से उसमें विराजमान देवता विकृत नहीं हो जाते।

पृष्ठ-१५

(२०३)

देह सम्बन्धी मिथ्या विकल्पों में उलझना ऋषियों का कार्य नहीं। विकल्पों से होता भी क्या है? पर में कर्तृत्व के सभी विकल्प नपुंसक ही होते हैं, उनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, यदि उनका मेल कभी जगत में सहज परिणमन से सहज ही हो जावे तो अनादिकालीन मिथ्या मान्यतायें और भी पुष्ट हो जाती हैं। पृष्ठ-१५

अक्षम्य अपराध

(२०४)

सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।

पृष्ठ-१७

(२०५)

शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझने वाले चाहिये। पृष्ठ-१७

(२०६)

ऐसा कौन-सा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो।

पृष्ठ-१७

(२०७)

अपमानित मानी क्रोधित भुजंग एवं क्षुधातुर मृगराज से भी अधिक दु:साहसी हो जाता है। पृष्ठ-१७

(२०८)

अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं। पृष्ठ-१९

(२०९)

अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए। पृष्ठ-१९

(२१०)

साधु को श्रुत के सागर से संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है। पृष्ठ-१९

(२११)

श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना ही चाहिये था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे। पृष्ठ-१९

जागृत विवेक

(२१२)

यदि पात्रता हो तो कुछ भी अलभ्य नहीं, पुरुषार्थियों की पिपासा तृप्त होती ही है; पर सब कुछ अन्तर की लगन पर निर्भर करता है। पृष्ठ-२२

(२१३)

तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है। पृष्ठ-२२

(२१४)

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है। पृष्ठ २३

(२१५)

विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए, अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही संभव है; क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है; किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करने वाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरकुंश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुत परम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है। पृष्ठ-२५

(२१६)

जगत में ऐसा कौनसा प्रमेय है, जो सतर्क को अगम्य हो। पृष्ठ-२६

अभागा भरत

(२१७)

सम्राट के इस विश्वास को यह अनुचर अपनी अनुपम निधि समझता है, पर पर्यायों के क्रमनियत परिणमन को कौन टाल सकता है? सम्राट को इस महा सत्य पर भी विचार करना चाहिए। अपने नियतक्रम में घटनेवाली घटनाओं को साक्षीभाव से स्वीकार करना ही दृष्टिवन्त का कर्त्तव्य है।

पृष्ठ-२७

(२१८)

श्रद्धास्पद सत्य को स्वीकार करने के लिए राग बाध्य नहीं होता।

पृष्ठ-२७

(२१९)

रुचि की प्रतिकूलता में सद्भाग्य भी दुर्भाग्यवत् फलते हैं। पृष्ठ-२७

(२२०)

भरत को और चाहे जो कुछ कहें, पर भाग्यशाली नहीं। आज इस अभागे भरत को अपने सौ भाइयों एवं उन नागरिकों के भाग्य से ईर्ष्या हो रही है; जिन्हें आज से ही प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार छह-छह घड़ी भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि सुनने का अवसर प्राप्त होगा और उसी समय तुम्हारा यह अभागा भरत साम-दाम-दण्ड-भेद की राजनीति में उलझा होगा, युद्ध का संचालन कर रहा होगा। पृष्ठ-२८

(२२१)

कर्त्तव्य की ठोकर बुद्धि ही बर्दाश्त कर सकती है, हृदय नहीं। पृष्ठ-२९

(२२२)

राजनीति अपना रस सब जगह से ग्रहण करती है। देश की अखंडता के लिए मात्र जमीन ही जीतना जरूरी नहीं होता, जनता का दिल भी जीतना होता है। धर्मप्राण जनता धार्मिक सद्भाग्य से ही समर्पित होती है — सम्राट को यह नहीं भूलना चाहिए। पृष्ठ-२९

(२२३)

आपके चाहने न चाहने से क्या होता है? सौभाग्य का उदय हो तो लाभ मिलता ही है। पृष्ठ-३०

उच्छिष्ट भोजी

(२२४)

माँ का हृदय समाचारों से कब तृप्त हुआ है? उसे तो सम्मिलन से ही सन्तोष होता है। पृष्ठ-३१

(२२५)

चित्त कोई जमीन नहीं; जिसे बल से, वैभव से, पुण्य-प्रताप से जीत लिया जाये। चित्त को जीत लेने वालों को छह खण्डों की नहीं अखण्ड आत्मा की प्राप्ति होती है। पृष्ठ-३२

(२२६)

अखण्ड आत्मा की उपलब्धि ही जीवन की सार्थकता है। पृष्ठ-३२

(२२७)

नहीं माँ नहीं, मुझे भी भ्रम था; पर जब मैं दिग्विजय के अवसर पर जग प्रसिद्ध शिला पर अपना नाम लिखने गया तो वह शिला उन चक्रवर्तियों के नामों से भरी पड़ी थी; जिन्होंने अब तक इस भरत के छह खण्डों को भोगा था। मुझे एक चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पड़ा। तब मुझे

पता चला कि मैं जिस वसुधा को अभुक्त समझ रहा था, वह उच्छिष्ट है, मैं अभुक्त भोजी नहीं, उच्छिष्ट भोजी हूँ। पृष्ठ-३२

(२२८)

भरत समझाते हुए बोले - माँ, भावुकता से तथ्य नहीं बदला करते। मेरे प्रति स्नेह से अभिभूत आपका हृदय यह सत्य स्वीकार नहीं कर पा रहा है। सत्यासत्य का निर्णय हृदय से नहीं, बुद्धि से - विवेक से होता है। पृष्ठ-३३

(२२९)

माँ, तेरे भरत का राग चाहे उसके वश की बात न हो; पर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान - विवेक धोखा नहीं खा सकता। भले ही भरत इस चक्रवर्तित्व को छोड़ न सके, पर इसमें रहकर गर्व अनुभव नहीं कर सकता, उसमें रम नहीं सकता।

चक्रवर्तित्व भरत का गौरव नहीं; मजबूरी है, मजबूरी . . . पृष्ठ-३५

परिवर्तन

(२३०)

पशु की अपेक्षा यदि इस मनुष्य को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हैं तो असुविधाएँ भी कम नहीं। यदि पशु को पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने की सुविधा नहीं है, तो साथ ही वह परम्पराओं की गुलामी से भी मुक्त है; पर इस सभ्य कहलाने वाले मानव जगत को यदि उत्तराधिकार में सम्पत्ति मिलती है तो साथ में परम्परागत रूढ़ियों की गुलामी भी विरासत में प्राप्त होती है। पृष्ठ-३६

(२३१)

बाड़े का बन्धन असह्य प्रतीत होने पर भी बाड़े की सीमा का उल्लंघन करने की कल्पना भी सामान्यजनों को कँपा देती है। पृष्ठ-३६

(२३२)

सत्य के आराधक क्रान्तिकारियों को सिंह वृत्ति ही शोभती है। साथियों की कल्पना उसके शौर्य को प्रतिबन्धित करती है। पृष्ठ-३६

(२३३)

अनुयायी कभी साथ नहीं देते, उनका काम तो अनुसरण करना है।

पृष्ठ-३७

(२३४)

आत्मधर्म तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन से क्या प्रयोजन? पृष्ठ-३७

(२३५)

चेहरे की भाषा पढ़ना हर कोई थोड़े ही जानता है, उसके लिए तीक्ष्ण प्रज्ञा अपेक्षित है। पृष्ठ-३८

(२३६)

हमारा यह भव, भव का अभाव करने के लिए है, किसी पक्ष या सम्प्रदाय के पोषण के लिए नहीं। पृष्ठ-३९

(२३७)

रोटियों की चिन्ता करने वाले घर नहीं छोड़ा करते। तुम रोटियों की बात करते हो; जो चिन्तामणि मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं सम्प्रदाय एवं उसका गुरुत्व तो क्या, चक्रवर्ती की सम्पदा एवं तीर्थंकर जैसा गुरुत्व भी तृणवत् त्याग सकता हूँ। मुझे अशरीरी होने का मार्ग मिल गया है, अब मैं इस शरीर की क्या चिन्ता करूँ? पृष्ठ-३९-४०

(२३८)

ऐसा कोई रास्ता है ही नहीं, मान्यता छूट जाने पर अपरिमित काल तक मुँहपट्टी का बने रहना संभव ही नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। इसमें कोई क्या कर सकता है? मुझसे अब यह छल नहीं हो सकेगा। जिसे मैं अन्तर से ठीक नहीं मानता, सच नहीं जानता; उसका भार अब मुझसे नहीं ढोया जा सकता। मुझसे ही क्या, किसी भी ज्ञानी से यह सब कुछ सम्भव नहीं है।

पृष्ठ-४१

जरा-सा अविवेक

(२३९)

जानना आसान है, पर पहिचानना नहीं; क्योंकि पहिचानने में जो गहराई है, वह जानने में कहाँ? पृष्ठ-५०

(२४०)

शरीर का घाव तो समय पाकर भर जाता है, पर मन के घाव का भरना सहज नहीं होता। पृष्ठ-५३

गाँठ खोल देखी नहीं

(२४१)

बुद्धिमत्ता और अनुभव का कमाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। कमाना और गमाना तो पुण्य-पाप के खेल हैं। पृष्ठ-५५

(२४२)

सुख-दु:ख सहने की जितनी सामर्थ्य नारियों में होती है, उतनी पुरुषों में कहाँ? पृष्ठ-५६

(२४३)

बिना डींग हाँके दुर्भाग्य से लड़ने की जितनी क्षमता नारियों में सहज देखी जा सकती है; पुरुषों में उसके दर्शन असम्भव नहीं, तो दुर्लभ तो हैं हीं। पृष्ठ-५६

(२४४)

आज तक सबने अचेतन लालों को ही परखा है, चेतन लालों को नहीं परखा। मैंने तो चेतन लाल को ही परखा था, उसी की कीमत बताई थी। पृष्ठ-६३

(२४५)

जब तक स्वयं परखने की दृष्टि न हो तो उधार की बुद्धि से कुछ लाभ नहीं होता। पृष्ठ-६३

(२४६)

स्वयं से उद्घाटित सत्य जितना लाभदायक होता है, उतना दूसरों के द्वारा उद्घाटित नहीं। पृष्ठ-६३

(२४७)

बुद्धि भी भवितव्य का अनुसरण करती है। जब खोटा समय आता है तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि पर भी पत्थर पड़ जाते हैं। पृष्ठ-६४

(२४८)

ज्ञानियों की वाणी का रहस्य भी हम कहाँ समझ पाते हैं? वे जितनी गहराई से बोलते हैं, हम उसकी कल्पना भी तो नहीं कर पाते। पृष्ठ-६५

(२४९)

सड़कों पर, गलियों में घूमते दर-दर की ठोकर खाते चेतन लालों की कीमत आज किसको है? आज तो सभी जड़ रत्नों के पीछे भाग रहे हैं। आज कौन-सा घर इन चेतन लालों से खाली है? कमी लालों की नहीं; उन्हें पहिचानने वालों की है, सँभालने वालों की है। दूसरों की बात जाने दीजिये; हम स्वयं लाल हैं, पर अपने को पहिचान नहीं पा रहे हैं। पृष्ठ-६५

तिरिया-चरित्तर

(२५०)

मानवस्वभाव की जैसी गहरी पकड़ उन अनपढ़ पनिहारिनों में पाई जाती है; वैसी पकड़ विश्वविद्यालयीन कारखानों में ढले डिग्रीधारी पत्रकारों में प्राप्त होना असम्भव नहीं तो दुर्लभ तो है ही। पृष्ठ-६६

(२५१)

प्रशंसा मानव-स्वभाव की एक ऐसी कमजोरी है कि जिससे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं बच पाते हैं। निन्दा की आँच भी जिसे पिघला नहीं पाती, प्रशंसा की ठंडक उसे छार-छार कर देती है। पृष्ठ-६८

(२५२)

देखी आपने पुरुषों की पशुता! स्वयं चाहे हजारों औरतों से सब प्रकार के सम्बन्ध रखें, परन्तु स्त्री को किसी से बात करते देख लिया तो हो गये पागल। यह नहीं सोचते कि नारियाँ भी तो पुरुषों के समान ही हाड़मांस वाली प्राणी हैं। पृष्ठ-७३

(२५३)

पण्डितों के प्रवचनों में वह सामर्थ्य कहाँ, जो नारियों के आँसुओं में है। वे अपनी बात को आँसुओं से भीगी भाषा में रखने में इतनी चतुर होती हैं कि बड़े-बड़े धर्मात्मा भी अपने को पापी समझने लगें। पृष्ठ-७५

(२५४)

फाड़ डालो इन पोथियों को; आग लगा दो इन पोथियों में। इनमें तुमने जिन नारिंयों के चरित्रों का चित्रण किया है, वे इस लोक की नहीं, कवियों के कल्पना-लोक की नारियाँ हैं; ऋषियों के भावना-भवन में जन्मी, पली-पुसी नारियाँ हैं, लेखकों के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। कठोर बत्तीस दाँतों के बीच रहने वाली कोमल जबान की जिन्दादिली, ताजगी, चपलता और चतुराई जैसी इन क्रूर पुरुषों के बीच जीवन निर्वाह करने वाली हम जैसी जिन्दा वीरबालाओं में पाई जाती है; वैसी तुम्हारी पोथियों में कैद कल्पनालोक की काल्पनिक कन्याओं में कहाँ?

पृष्ठ-७७

(२५५)

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में पोथियों का भी अपना स्थान है, उनकी भी उपयोगिता है; पर वे ही सब-कुछ नहीं हैं। हम शास्त्रों का अध्ययन करें ही नहीं - मैं यह नहीं कहना चाहती, पर यह बात अवश्य कहना चाहती हूँ कि सम्पूर्णतः उन पर ही निर्भर हो जाना उचित नहीं है। हमें अपने ज्ञान को वस्तुनिष्ठ बनाना चाहिए। किसी भी वस्तु के बारे में अन्तिम निर्णय पर पहुँचने से पहले पोथियों में उसके बारे में क्या लिखा है - यह जानने के साथ-साथ उस वस्तु का अवलोकन भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अन्यथा हमें तत्सम्बन्धी सत्य का साक्षात्कार नहीं होगा।

आत्मा के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक महत्त्व रखती है। उसे जानने के लिए तो हमें निम्नांकित चार सोपानों से गुजरना होगा :-

आत्मस्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन, आत्मज्ञानी गुरुओं से उनके मर्म का श्रवण, विविध युक्तियों द्वारा समुचित परीक्षण एवं आत्मावलोकन अर्थात् आत्मानुभवन। - इन चारों में आत्मानुभवन का सर्वाधिक महत्त्व है, उसके बिना शेष सब निरर्थक ही समझिये।

इसीलिए तो मैं कहती हूँ लिखने से पहले लखना, देखना, अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

पृष्ठ-७९

(२५६)

समझदार को संकेत ही पर्याप्त होता है। पृष्ठ-७९

असन्तोष की जड़

(२५७)

ये कमजोरियाँ तो सामान्यजनों की हैं कि जरा-सा हास्य या दो आँसू उन्हें कर्त्तव्य से च्युत कर सकते हैं। पर जो इस कमजोरी से मुक्त हैं, वही तो देवता हैं। उन्हें मनुष्यों के समान जल्दी उफान नहीं आता। उनका प्रत्येक कदम बहुत सोच-समझकर उठता है; पर जो कदम उठ जाता है, वह पीछे नहीं हटता। विचार उनके लिए खिलौना नहीं, जीवन है; उनके कदम घूमने के लिए नहीं, आगे बढ़ने के लिए उठते हैं।

यद्यपि उनके कदम देर से उठते हैं, पर सोच-समझकर उठते हैं और लक्ष्य की ओर दृढ़ता से बढ़ते हैं। पृष्ठ-८१

(२५८)

महासती सीता को आदर्श माननेवाली भारतीय ललनाओं को यह याद रखना चाहिए कि अपने ही लोगों के असद्व्यवहार से विरक्त सीता ने आत्महत्या का मार्ग न चुनकर आत्मसाधना का रास्ता अपनाया था। पृष्ठ-८३

(२५९)

आदमी चाहे जितना बड़ा हो जावे, देवता भी क्यों न हो जावे, दुनियाँ उसके चरण चूमे; पर पत्नी को उसमें कुछ न कुछ कमी नजर आती ही रहती है। सच्चे दिल से वह उसे अपने योग्य स्वीकार नहीं कर पाती। वह अपनी कल्पना में पति की एक ऐसी काल्पनिक मूर्ति गढ़ लेती है कि जिसकी कसौटी पर आज तक कोई पति खरा नहीं उतर पाया।

उसकी यह असंभव कल्पना ही असन्तोष की जड़ है।

मैं अभी तक समझती थी कि सद्बुद्धि जब आ जावे, तभी अच्छी; पर वह सद्बुद्धि भी किस काम की, जो समय रहते न आवे। पृष्ठ-८५



धर्म के दशलक्षण

दशलक्षण महापर्व

(२६०)

अष्टाह्निका और दशलक्षण जैसे जैनपर्वों का संबंध खाने और खेलने से न होकर खाना और खेलना त्यागने से है। ये भोग के नहीं, त्याग के पर्व हैं; इसीलिए महापर्व हैं। इनका महत्त्व त्याग के कारण है, आमोद-प्रमोद के कारण नहीं।

पृष्ठ-१

(२६१)

दशलक्षण महापर्व सम्प्रदायविशेष का नहीं, सबका है। भले ही उसे मात्र सम्प्रदायविशेष के लोग ही क्यों न मनाते हों, पर वह साम्प्रदायिक पर्व नहीं है; क्योंकि वह साम्प्रदायिक भावनाओं पर आधारित पर्व नहीं है, उसका आधार सार्वजनिक है। विकारी भावों का परित्याग एवं उदात्तभावों का ग्रहण ही उसका आधार है, जो सभी को समानरूप से हितकारी है। अतः यह पर्व मात्र जैनों का नहीं, जन-जन का पर्व है। इसे सम्प्रदायविशेष का पर्व मानना स्वयं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है।

पृष्ठ-३

(२६२)

दशलक्षण महापर्व की सार्वभौमिकता का आधार यह है कि सर्वत्र ही क्रोधादिक को बुरा, अहितकारी और क्षमादि भावों को भला और हितकारी माना जाता है। ऐसा कौनसा क्षेत्र है, जहाँ क्रोधादि को बुरा और क्षमादि को अच्छा न माना जाता हो ?

पृष्ठ-३

(२६३)

वह सार्वकालिक भी इसी कारण है, क्योंकि कोई काल ऐसा नहीं कि जब क्रोधादि को हेय और उत्तमक्षमादि को उपादेय न माना जाता रहा हो, न माना जाता हो और न माना जाता रहेगा। अर्थात् सर्वकालों में इसकी उपादेयता

असंदिग्ध है। भूतकाल में भी क्रोधादि से दुःख व अशान्ति तथा क्षमादि से सुख व शान्ति की प्राप्ति होती देखी गई है, वर्तमान में भी देखी जाती है और भविष्य में भी देखी जायेगी। पृष्ठ-३

(२६४)

धर्म तो आत्मा में प्रकट होता है, तिथि में नहीं; किन्तु जिस तिथि में आत्मा में क्षमादिरूप वीतरागी शान्ति प्रकट हो, वही तिथि पर्व कही जाने लगती है। धर्म का आधार तिथि नहीं, आत्मा है। पृष्ठ-६

(२६५)

ये दश धर्म नहीं, धर्म के दशलक्षण हैं; जिन्हें संक्षेप में दशधर्म शब्द से भी अभिहित कर दिया जाता है। जिस आत्मा में आत्म-रुचि, आत्म-ज्ञान और आत्म-लीनतारूप धर्म पर्याय प्रकट होती है, उसमें धर्म के ये दशलक्षण सहज प्रकट हो जाते हैं। ये आत्माराधन के फलस्वरूप प्रकट होने वाले धर्म हैं, लक्षण हैं, चिह्न हैं। पृष्ठ-७

(२६६)

वस्तुतः चारित्र ही साक्षात् धर्म है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो चारित्ररूप वृक्ष की जड़ें (मूल) हैं। जैसे वृक्ष जड़ के बिना खड़ा नहीं रह सकता, पनप नहीं सकता, अथवा जड़ के बिना जैसे वृक्ष की एक प्रकार से सत्ता ही संभव नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी जड़ के बिना सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष खड़ा ही नहीं रह सकता, पनप नहीं सकता, अथवा इन दोनों के बिना सम्यक्चारित्र की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पृष्ठ-७

(२६७)

यद्यपि उक्त दशधर्मों का वर्णन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, तथापि ये धर्म मात्र मुनियों को धारण करने के लिए नहीं हैं; गृहस्थों को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इनको अवश्य धारण करना चाहिए। धारण क्या करना चाहिए, वस्तुतः बात तो ऐसी है कि ज्ञानी गृहस्थ

के भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये होते ही हैं, इनका पालन सहज पाया जाता है। पृष्ठ-८

उत्तम क्षमा

(२६८)

धर्म तो स्वतंत्रता का नाम है। जिसमें अनन्त बंधन हो, वह धर्म कैसा ? पृष्ठ-१०

(२६९)

व्यवहारी को व्यवहार की भाषा में समझाना पड़ता है। मुनिजन क्षमा के भण्डार होते हैं। यदि वे अपनी ओर से बोलेंगे तो यही बोलेंगे कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर दुनिया में भाव होता है वक्ता का और भाषा होती है श्रोता की। यदि श्रोता की भाषा में न बोला गया तो वह कुछ समझ ही न सकेगा। अत: ज्ञानीजन समझाना तो चाहते हैं क्षमाधर्म, पर समझाते हैं क्रोध की बात करके। बच्चों से बात करने के लिए उनकी ओर से बोलना पड़ता है। जब हम बच्चे से कहते हैं कि माँ को बुलाना, तब हमारा आशय बच्चों की माँ से होता है, अपनी माँ से नहीं; क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसा कहने पर बच्चा अपनी माँ को ही बुलायेगा, हमारी माँ को नहीं। पृष्ठ-१२

(२७०)

जिन विकारों के कारण, जिन कमजोरियों के कारण, जिन कषायों के कारण प्राणी सफलता के द्वार तक पहुँच कर भी कई बार असफल हुआ, सुख-शान्ति के शिखर पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहने पर भी पहुँच नहीं पाया; उन विकारों में, उन कमजोरियों में, उन कषायों में सबसे बड़ा विकार, सबसे बड़ी कमजोरी और सबसे बड़ी कषाय है क्रोध। पृष्ठ-१३

(२७१)

लोक में जितनी भी हत्याएँ और आत्महत्याएँ होती हैं, उनमें से अधिकांश क्रोधावेश में ही होती हैं। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। पृष्ठ-१३

(२७२)

क्रोध का एक खतरनाक रूप है बैर। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुत: वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते हैं। सोचते क्या हैं – तत्काल बदला लेने लगते हैं। जिसे शत्रु समझते हैं, क्रोधावेश में उसे भला-बुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं। पृष्ठ-१५

(२७३)

क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है। पृष्ठ-१५

(२७४)

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आता है – उतना बैर में नहीं, तथापि क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि बैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। पृष्ठ-१६

(२७५)

सुख-दु:ख का कर्त्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है। पृष्ठ-१६

(२७६)

क्रोध का अभाव आत्मा के आश्रय से होता है। मिथ्यादृष्टि के आत्मा का आश्रय नहीं है; अत: उसके क्रोध का अभाव नहीं हो सकता। पृष्ठ-१७

(२७७)

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की अरुचि ही अनन्तानुबंधी क्रोध है। पृष्ठ-२२

उत्तम मार्दव

(२७८)

मानी जीव हमेशा अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा करने का प्रयत्न किया करता है। पृष्ठ-२४

(२७९)

असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। यही कारण है कि असफल व्यक्ति क्रोधी होता है और सफल मानी। पृष्ठ-२६

(२८०)

क्रोधी को विरोधी की सत्ता ही स्वीकृत नहीं होती, जबकि मानी को भीड़ चाहिए, नीचे बैठने वाले चाहिए, जिनसे वह कुछ ऊँचा दिखे। पृष्ठ-२७

(२८१)

क्रोधी क्रोध के निमित्त को हटाना चाहता है, पर मानी मान के निमित्तों को रखना चाहता है। क्रोधी कहता है — गोली से उड़ा दो, मार दो; पर मानी कहता है — नहीं; मारो मत, पर जरा दबाकर रखो। पृष्ठ-२७

(२८२)

दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है, जिसे लोग मान नहीं मानना चाहते। दीन को मानी-अभिमानी मानने को उनका दिल स्वीकार नहीं करता।

पृष्ठ-२८

(२८३)

पर के कारण चाहे अपने को छोटा माने या बड़ा — दोनों ही मान हैं। इस कारण मानी तो मानी है ही, दीन भी मानी ही है। पृष्ठ-३१

(२८४)

आर्हत मत में 'मेरा स्वरूप सिद्ध समान है' कहकर भगवान को भी समानता के सिद्धान्त के भीतर ले लिया गया है। 'मैं किसी से बड़ा नहीं' मानने वाले को मान एवं 'मैं किसी से छोटा नहीं' मानने वाले को दीनता आना संभव नहीं। पृष्ठ-३२

(२८५)

यदि मान हटाना है तो सबमें विद्यमान समानता को जानिए, मानिए; मान स्वयं भाग जाएगा और सहज हीं मार्दवधर्म प्रकट होगा। पृष्ठ-३२

(२८६)

जैसा हो वैसा अपने को मानने का नाम मान नहीं है; क्योंकि उसका नाम तो सत्यश्रद्धान, सत्यज्ञान है। बल्कि जैसा है नहीं, वैसा मानने से, तथा जैसा है नहीं, वैसा मानकर अभिमान या दीनता करने से मान होता है, मार्दव धर्म खण्डित होता है। पृष्ठ-३२

(२८७)

संयोग को संयोगरूप जानने से भी मान नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी-चक्रवर्ती अपने को चक्रवर्ती जानता ही है, मानता भी है; किन्तु साथ में यह भी जानता है कि यह सब संयोग है, मैं तो इनसे भिन्न निराला तत्त्व हूँ। यही कारण है कि उसके अनन्तानुबन्धी का मान नहीं होता। यद्यपि कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि का मान रहता है, तथापि मान के साथ एकत्वबुद्धि का अभाव है, अतः उसके आंशिकरूप से मार्दवधर्म विद्यमान है। पृष्ठ-३२-३३

(२८८)

कहाँ भगवान का अनन्तज्ञान और कहाँ अपना उसका अनन्तवाँ भाग ज्ञान, क्या करना उसका अभिमान ? पृष्ठ-३४

(२८९)

वस्तुतः तो अपनी आत्मा की पूर्ण शक्तियों को पहिचान कर उनके आश्रय से जगत के सामने दीन न होना ही स्वाभिमान है। पृष्ठ-३५

(२९०)

मानादि कषायें भूमिकानुसार क्रमशः छूटती हैं, पर उनमें उपादेयबुद्धि एक साथ ही छूट जाती है। इनमें उपादेयबुद्धि छूटे बिना धर्म का आरम्भ ही नहीं होता। पृष्ठ-३७

(२९१)

मान का आधार 'पर' नहीं है, पर को अपना मानना है।

जो पर को अपना माने उसे मुख्यतः मान होता है। अतः मान छोड़ने के लिए पर को अपना मानना छोड़ना होगा। पर को अपना मानना छोड़ने का अर्थ यह है कि निज को निज और पर को पर जानना होगा, दोनों को भिन्न-भिन्न

स्वतंत्र सत्तायुक्त पदार्थ मानना ही पर को अपना मानना छोड़ना है, ममत्वबुद्धि छोड़ना है। पृष्ठ-३९

उत्तम आर्जव

(२९२)

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि लौकिक कार्यों की सिद्धि मायाचार से नहीं, पूर्व पुण्योदय से होती है और पारलौकिक कार्य की सिद्धि में पाँचों समवायों के साथ पुरुषार्थ प्रधान है। पृष्ठ-४१

(२९३)

कार्यसिद्धि के लिए कपट का प्रयोग कमजोर व्यक्ति करता है। सबल व्यक्ति को अपनी कार्यसिद्धि के लिए कपट की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी प्रवृत्ति तो अपने जोर के जरिये कार्य सिद्ध करने की रहती है।

पृष्ठ-४१

(२९४)

सशंकित और भयाक्रान्त व्यक्ति कभी भी निराकुल नहीं हो सकता। उसका चित्त निरन्तर आकुल-व्याकुल और अशान्त रहता है। अशान्त-चित्त व्यक्ति कोई भी कार्य सही रूप में एवं सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है, फिर धर्म की साधना और आत्मा की आराधना तो बहुत दूर की बातें हैं।

मायाचारी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र का भी उस पर से विश्वास उठ जाता है। पृष्ठ-४२

(२९५)

यद्यपि यह सत्य है कि आर्जवधर्म के होने के लिए मन-वचन-काय की आवश्यकता नहीं; क्योंकि मन-वचन-कायरहित सिद्धों के वह विद्यमान है। इसीप्रकार मायाकषाय की उपस्थिति के लिए भी तीनों की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं; क्योंकि एकेन्द्रिय के अकेली काया है फिर भी उसके माया पायी जाती है, जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि समझने-समझाने के लिए इनकी उपयोगिता है; क्योंकि इनके बिना हमारे पास

मायाकषाय और आर्जवधर्म को समझने-समझाने के लिए कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि इन्हें मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

दूसरी बात यह भी तो है कि समझने वाले और समझाने वाले दोनों ही मन-वचन-काय वाले हैं और समझने-समझाने का माध्यम भी मन-वचन-काय है। जिनके इनका अभाव है, ऐसे सिद्ध कभी किसी को समझाते नहीं एवं जिनके इनमें से एक का भी अभाव है, ऐसे असैनी पंचेन्द्रिय तक के संसारी जीव समझते नहीं। विशेषकर मनुष्य जाति में ही इनकी चर्चा चलती है तथा मनुष्य का मायाचार प्रायः मन-वचन-काय की विरूपता में तथा आंर्जवधर्म इनकी एकरूपता में प्रकट होता देखा जाता है।

अतः आर्जवधर्म एवं मायाकषाय को मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है। पृष्ठ-४५-४६

(२९६)

मन-वचन-काय के माध्यम से मायाचार एवं आर्जवधर्म होते नहीं, प्रकट होते हैं। समझने-समझाने के लिए प्रकट होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रकट वस्तु को समझना-समझाना जितना आसान है, उतना अप्रकट को नहीं।

पृष्ठ-४६

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन-वचन-काय के माध्यम से आर्जवधर्म और मायाकषाय को समझने-समझाने का मूल कारण यह है कि मन-वचन-काय वालों की मायाकषाय और आर्जवधर्म प्रायः मन-वचन-काय के माध्यम से ही प्रकट होते हैं। पृष्ठ-४७

(२९७)

यदि ऐसी बात है तो फिर तो यह बात ठीक है कि —

मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।

हाँ! हाँ!! ठीक है, पर किनके लिये, इसका भी विचार किया या नहीं? यह बात उनके लिये है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन में आई है, यदि वह वाणी में भी आ जाय तो फूलों की वर्षा हो और यदि

उसे कार्यान्वित कर दिया जाय तो जगत निहाल हो जावे। यह बात उनके लिए नहीं, जिनका मन पापों से भरा है; जिनके मन में निरन्तर खोटे भाव ही आया करते हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ही चिन्तन जिनके सदा चलता रहता है। यदि उन्होंने भी यही बात अपना ली तो मन के समान उनकी वाणी भी अपावन हो जावेगी तथा उनका जीवन घोर पापमय हो जावेगा। पृष्ठ-४७

(२९८)

'मन में होय सो वचन उचरिये' का आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमें कोई खोटा भाव आवे ही नहीं। पृष्ठ-४७

(२९९)

यही उचित है कि मन-वचन-काय की एकरूपता अच्छाई में ही हो, बुराई में नहीं। हमें मन-वचन-काय में एकरूपता लाने के लिए मन को इतना पवित्र बनाना होगा कि उसमें कोई खोटा भाव कभी उत्पन्न ही न हो, अन्यथा उनकी एकरूपता रखना न तो सम्भव ही होगा और न हितकर ही। पृष्ठ-४८

(३००)

इसीप्रकार सदा आत्मा में विचरण करने वाले मुनिराज और ज्ञानीजन सदा आत्मा की ही बात करते हैं और विषय-कषाय में विचरण करने वाले मोहीजन विषय-कषाय की ही चर्चा करते हैं। पृष्ठ-५०

(३०१)

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही अनन्त वक्रता है। जो जिसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, उसे उसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना ही अनन्त कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दुःखरूप एवं दुःखों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुतः कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है। पृष्ठ-५०-५१

(३०२)

जैसा आत्मा का स्वभाव है, उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना और उसी में तन्मय होकर परिणम जाना ही वीतरागी सरलता है; उत्तम आर्जवधर्म है।

पृष्ठ-५१

(३०३)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् एवं एकरूप परिणमन ही आत्मा की एकरूपता है, वही वीतरागी सरलता है और वही वास्तविक उत्तम आर्जवधर्म है। लोक में छल-कपट के अभावरूप मन-वचन-काय की एकरूपता सरल परिणति को व्यवहार से आर्जवधर्म कहा जाता है। पृष्ठ-५१

(३०४)

वस्तु के सही स्वरूप को जाने-माने बिना वीतरागी सरलतारूप आर्जवधर्म प्रकट नहीं किया जा सकता। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही मायाचार का अभाव होकर वीतरागी सरलता प्रकट होती है। पृष्ठ-५२

उत्तम शौच

(३०५)

पैसे का लोभी व्यक्ति सदा जोड़ने में ही लगा रहता है, भोगने का उसे समय ही नहीं मिलता। पशुओं का लोभ पेट भरने तक ही सीमित रहता है, पेट भर जाने पर वह कुछ समय को ही सही, सन्तुष्ट हो जाता है; पर मानव की समस्या मात्र पेट भरने तक सीमित नहीं रहती वह पेटी भरने के चक्कर में सदा ही असन्तुष्ट बना रहता है। पृष्ठ-५४

(३०६)

वस्तुतः तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की एवं मानादि कषायों की पूर्ति का लोभ ही लोभ है। पैसे का लोभ तो कृत्रिम लोभ है। यह तो मनुष्य भव की नई कमाई है। लोभ तो चारों गतियों में होता है, किन्तु रुपये-पैसे का व्यवहार तो चारों गतियों में नहीं है। यदि रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ मानें तो अन्य

गतियों में लोभ की सत्ता सम्भव न होगी, जबकि कषायों की बहुलता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने लोभ की अधिकता देवगति में बताई है। पृष्ठ-५५

(३०७)

रूप के लोभी, नाम के लोभी रुपये-पैसों को पानी की तरह बहाते कहीं भी देखे जा सकते हैं। कहीं कोई सुन्दर कन्या देखी और राजा साहब लुभा गये। फिर क्या ? कुछ भी हो, वह कन्या मिलनी ही चाहिए। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जावेंगे पुराणों में, इतिहास में। राजा श्रेणिक चेलना के, पवनञ्जय अंजना के रूप पर ही तो लुभाए थे। पृष्ठ-५६

(३०८)

नाम के लोभी यह कहते मिलेंगे — भाई! सबको एक दिन मरना ही है, कुछ करके जावो तो नाम अमर रहेगा। आत्मा को मरणशील और नाम को अमर मानने वाले और कौन हैं? नाम के लोभी ही तो हैं। क्या दम है नाम की अमरता में? एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, भविष्य में कौन जानेगा यह किसका नाम था? पृष्ठ-५६

(३०९)

आत्मस्वभाव को आच्छन्न करनेवाली शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय जब अपनी तीव्रता में होती है तो अन्य कषायों को भी दबा देती है। लोभी व्यक्ति मानापमान का विचार नहीं करता। वह क्रोध को भी पी जाता है।

लोभ दूसरी कषायों को काटता ही है, स्वयं को भी काटता है। यश का लोभी धन का लोभ छोड़ देता है। पृष्ठ-५८

(३१०)

जब लोभ किसी वस्तु के प्रति होता है तो उसे लोभ या लालच कहा जाता है, पर जब वही लोभ किसी व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रीति या प्रेम नाम दिया जाता है। पृष्ठ-५९

(३११)

स्वर्गादि के लोभ में धर्म के नाम पर सब-कुछ करना यद्यपि लोभ ही है, तथापि ऐसे लोभी जगत में धर्मात्मा-से दिखते हैं। पृष्ठ-६१

(३१२)

सबसे खतरनाक कषाय लोभ है और सबसे बड़ा धर्म शौच है। पृष्ठ-६३

(३१३)

शौचधर्म मात्र लोभकषाय के अभाव का ही नाम नहीं, वरन् लोभान्त कषायों के अभाव का नाम है। पृष्ठ-६३

(३१४)

जरा विचार तो करो! ये राग-द्वेषभाव हड्डी-खून-मांस आदि से भी अधिक अपवित्र हैं; क्योंकि हड्डी-खून-मांस उपस्थित रहते हैं, फिर भी पूर्ण पवित्रता, केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रकट हो जाते हैं, आत्मा अमल हो जाता है; किन्तु यदि रंचमात्र भी राग रहे; चाहे वह मंद से मंदतर एवं मंदतम ही क्यों न हो, कितना भी शुभ क्यों न हो, तो केवलज्ञान व अनन्तसुख नहीं हो सकता।

आत्मा पहिले वीतरागी होता है फिर सर्वज्ञ। सर्वज्ञ होने के लिए वीतरागी होना जरूरी है; वीतदेह नहीं, वीतहड्डी नहीं, वीतखून भी नहीं। इससे सिद्ध है कि रागभाव हड्डी और खून से भी अधिक अपवित्र है। पृष्ठ-६६

(३१५)

खून और हड्डी चाहे पवित्र हों या अपवित्र उनका आत्मा की पवित्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। खून और हड्डियाँ एक-सी होने पर भी अव्रती-मिथ्यादृष्टि अपवित्र हैं सम्यग्दृष्टि व्रती-महाव्रती पवित्र हैं। पृष्ठ-६७

(३१६)

आत्मा की पवित्रता वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-मांस-हड्डी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। पृष्ठ-६७

(३१७)

पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्रतिदिन नहानेवालों को नहीं, जीवनभर नहीं नहाने की प्रतिज्ञा करनेवालों को प्राप्त होते हैं। पृष्ठ-६७

(३१८)

मुनिराज नहाने का नहीं, नहाने के राग का त्याग करते हैं और जब नहाने का राग ही उन्हें नहीं रहा, तो फिर नहाना कैसे हो सकता है? पृष्ठ-६७

(३१९)

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही हैं, विकृति मात्र पर्याय में है। पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है। पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है। 'पर' के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और 'स्व' के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है। पृष्ठ-६८

(३२०)

समयसार गाथा ७२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा को अत्यन्त पवित्र एवं मोह-राग-द्वेषरूप आस्रव भावों को अपवित्र बताते हैं। उन्होंने आस्रवतत्त्व को अशुचि लिखा है, जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व को नहीं। आत्मा जीव है, शरीर अजीव है — दोनों ही अपवित्र नहीं; अपवित्र तो आस्रव है, जो लोभादि कषायोंरूप है। पृष्ठ-६८-६९

(३२१)

स्वभाव की शुचिता में ऐसी सामर्थ्य है कि उस पर जो पर्याय झुके, उसको जो पर्याय छुए, वह उसे पवित्र बना देती है। पवित्र कहते ही उसे हैं, जिसको छूने से छूनेवाला पवित्र हो जाय। वह कैसा पवित्र, जो दूसरों के छूने से अपवित्र हो जाय? पारस तो उसे कहते हैं, जिसके छूने पर लोहा सोना हो जाय। जिसके छूने से सोना लोहा हो जावे, वह थोड़े ही पारस कहा जायगा। इसीप्रकार जो अपवित्रपर्याय के छूने से अपवित्र हो जाय, वह स्वभाव कैसा? स्वभाव तो उसका नाम है, जिसके आश्रय से पर्याय भी पवित्र हो जावे। पृष्ठ-६९

(३२२)

आत्मस्वभाव के स्पर्श बिना अर्थात् आत्मा के अनुभव बिना शौचधर्म का आरंभ भी नहीं होता। शौचधर्म का ही क्या, सभी धर्मों का आरंभ आत्मानुभूति से ही होता है। आत्मानुभूति उत्तमक्षमादि सभी धर्मों की जननी है। पृष्ठ-६९

उत्तम सत्य

(३२३)

जहाँ सत्य की खोज, सत्य की उपासना की बात चलती है, वहाँ निश्चितरूप से सत्यवचन की खोज अपेक्षित नहीं होती, वरन् कोई ऐसा

महत्त्वपूर्ण अव्यक्त सत्य अपेक्षित होता है जो उपास्य हो, आश्रय के योग्य हो। दार्शनिकों और आध्यात्मिकों का उपास्य, आश्रयदाता सत्य मात्र वचनरूप नहीं हो सकता। जिसके आश्रय से धर्म प्रकट हो, जो अनन्त सुख-शान्ति का आश्रय बन सके; ऐसा सत्य कोई महान चेतनतत्त्व ही हो सकता है, उसे वाग्विलास तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसे वचनों तक सीमित करना स्वयं ही सबसे बड़ा असत्य है। पृष्ठ-७१

(३२४)

उत्तमक्षमादि दशधर्म अपनी-अपनी भूमिकानुसार अविरत सम्यग्दृष्टियों से लेकर सिद्धों तक पाये जाते हैं। पृष्ठ-७३

(३२५)

वाणी पुद्गल की पर्याय है और सत्य है आत्मा का धर्म। आत्मा का धर्म आत्मा में रहता है, शरीर और वाणी में नहीं। जो आत्मा के धर्म हैं, उनका सम्पूर्ण धर्मों के धनी सिद्धों में होना अनिवार्य है। उत्तमक्षमादि दशधर्म जिनमें सत्यधर्म भी शामिल है, सिद्धों में विद्यमान है; पर उनके सत्यवचन नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि निश्चय से सत्यवचन सत्यधर्म नहीं है। पृष्ठ-७३

(३२६)

ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि के अतिरिक्त पृथक्रूप में दशधर्मों की चर्चा आचार्यों ने की है। यदि सभी को धर्म ही कहना है तो इनको अलग से धर्म कहने का क्या प्रयोजन? जिस अपेक्षा से इन्हें पृथक् से धर्म कहा है, उसी अपेक्षा से मैं कहना चाहूँगा कि वे सब इन दशधर्मों में से कोई धर्म नहीं हैं। अथवा जिसकी चर्चा चल रही है वह 'सत्यधर्म' वे नहीं हैं। अधिक स्पष्ट कहूँ तो निश्चय से वचन का सत्यधर्म से कोई वास्ता नहीं है। क्योंकि अणुव्रतियों और महाव्रतियों का सत्य बोलना सत्याणुव्रत और सत्यमहाव्रत में जायगा, हित-मित-प्रिय बोलना भाषासमिति में तथा नहीं बोलना वचनगुप्ति में समाहित हो जायगा। अब वचन की ऐसी कोई स्थिति शेष नहीं रहती जिसे सत्यधर्म में डाला जावे। पृष्ठ-७३

(३२७)

सीधी-सी बात यह है कि जिस सत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है, वह न सत्य बोलने में है, न हित-मित-प्रिय बोलने में; वह बोलने के निषेधरूप मौन में भी नहीं; क्योंकि ये सब वाणी के धर्म हैं और विवक्षित सत्यधर्म आत्मा का धर्म है। पृष्ठ-७४

(३२८)

जो वास्तविक धर्म हैं, वे पूर्णता प्रकट हो जाने के बाद समाप्त नहीं होते। उत्तमक्षमादि धर्म सिद्धावस्था में भी रहते हैं, पर अणुव्रत-महाव्रत एक अवस्थाविशेष में ही रहते हैं। वे उस अवस्था के धर्म हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। गृहस्थ अणुव्रत ग्रहण करता है, किन्तु जब वही गृहस्थ मुनिधर्म अंगीकार करता है तो महाव्रत ग्रहण करता है, अणुव्रत छूट जाते हैं। जो छूट जावे वह धर्म कैसा ?

अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति — ये सब पड़ाव हैं, गन्तव्य नहीं, प्राप्तव्य नहीं, अन्तिम लक्ष्य नहीं; अन्तिम लक्ष्य सिद्ध अवस्था है। उसमें भी रहने वाले उत्तमक्षमादिधर्म जीव के वास्तविक धर्म हैं। पृष्ठ-७४

(३२९)

अब हमें उस सत्यधर्म को समझना है, जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक चतुर्गति के सभी मिथ्यादृष्टि जीवों में नहीं पाया जाता एवं सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्धों तक सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है। पृष्ठ-७४-७५

(३३०)

द्रव्य का लक्षण सत् है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः वह सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्तिस्वरूप वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं। सत्य के साथ लगा 'उत्तम' शब्द मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव बिना तो सत्यधर्म की प्राप्ति ही संभव नहीं है।

जबतक यह आत्मा वस्तु का — विशेषकर आत्मवस्तु का, सत्यस्वरूप नहीं समझेगा, तबतक सत्यधर्म की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। जिसकी उत्पत्ति ही न हुई हो, उसकी वृद्धि और सम्वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मवस्तु की सच्ची समझ आत्मानुभव के बिना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयोजनभूत अनात्म वस्तुओं का तो मात्र सत्यज्ञान ही अपेक्षित है, किन्तु आत्मवस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अनुभूति भी आवश्यक है। अनुभूति के बिना सम्यक् आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। पृष्ठ-७५

(३३१)

उत्तम सत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागभाव।
पृष्ठ-७५

(३३२)

अत: सत्यवाणी की बात तो दूर, मात्र सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझ भी सत्यधर्म नहीं; किन्तु सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझपूर्वक उत्पन्न हुई वीतराग परिणति ही निश्चय से उत्तमसत्यधर्म है। पृष्ठ-७५

(३३३)

सत् अर्थात् जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है, उसे वैसा ही जानना सत्यज्ञान है, वैसा ही मानना सत्यश्रद्धान है, वैसा ही बोलना सत्यवचन है; और आत्मस्वरूप के सत्यज्ञान-श्रद्धानपूर्वक वीतराग भाव की उत्पत्ति होना सत्यधर्म है। पृष्ठ-७६

(३३४)

वस्तुत: लोक में जो कुछ भी है वह सब सत् है, असत् कुछ भी नहीं है; किन्तु लोगों का कहना है कि हमें जगत में असत्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है, सत्य कहीं नजर ही नहीं आता। पर भाई! यह तेरी दृष्टि की खराबी है, वस्तुस्वरूप की नहीं। सत्य कहते ही उसे हैं जिसकी लोक में सत्ता हो। पृष्ठ-७६

(३३५)

अत: सिद्ध हुआ कि असत्य वस्तु में नहीं, उसे जाननेवाले ज्ञान में, माननेवाली श्रद्धा में या कहनेवाली वाणी में होता है। अत: मैं तो कहता हूँ

कि अज्ञानियों के ज्ञान, श्रद्धान और वाणी के अतिरिक्त लोक में असत्य की सत्ता ही नहीं है; सर्वत्र सत्य का ही साम्राज्य है। पृष्ठ-७७

(३३६)

सुधार भी जगत का नहीं; अपनी दृष्टि का, अपने ज्ञान का करना है। सत्य का उत्पादन नहीं करना है, सत्य तो है ही; जो जैसा है वही सत्य है। उसे सही जानना है, मानना है। सही जानना-मानना ही सत्य प्राप्त करना है और आत्म-सत्य को प्राप्त कर राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागतारूप परिणति होना सत्यधर्म है। पृष्ठ-७७

(३३७)

यदि मैं पट को पट कहूँ तो सत्य है, किन्तु पट को घट कहूँ तो झूठ है। मेरे कहने से पट, घट तो हो नहीं जाएगा; वह तो पट ही रहेगा। वस्तु में झूठ ने कहाँ प्रवेश किया? झूठ का प्रवेश तो वाणी में हुआ। इसीप्रकार यदि पट को घट जाने तो ज्ञान झूठा हुआ, वस्तु तो नहीं। मैंने पट को घट जाना, माना या कहा — इसमें पट का क्या अपराध है? गलती तो मेरे ज्ञान या वाणी में हुई है। गलती सदा ज्ञान या वाणी में ही होती है, वस्तु में नहीं। पृष्ठ-७७

(३३८)

असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान में; वस्तु में नहीं। वस्तु में असत्य की सत्ता ही नहीं है। वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता और बनाने की आवश्यकता भी नहीं है। आवश्यकता अपने ज्ञान और वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुरूप बनाने की है। जब ज्ञान और वाणी वस्तु के अनुरूप होंगे तब वे सत्य होंगे। जब आत्मा सत्स्वभावी-आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणति प्राप्त करेगा, तब सत्यधर्म का धनी होगा। जितने अंश में प्राप्त करेगा, उतने अंश में सत्यधर्म का धनी होगा। पृष्ठ-७८

(३३९)

मुक्ति के मार्ग में सत्य बोलना अनिवार्य नहीं; किन्तु सत्य जानना, सत्य मानना और आत्म-सत्य के आश्रय से उत्पन्न वीतराग-परिणतिरूप सत्यधर्म

प्राप्त करना जरूरी है; क्योंकि बिना बोले मोक्ष हो सकता है; पर बिना जाने, माने और तद्रूप परिणमित हुए बिना नहीं। सत्य जानने पर जीवन भर भी न बोले तो कोई अन्तर न पड़ेगा, पर जाने बिना नहीं चलेगा। पृष्ठ-८०

(३४०)

वस्तु का सत्यस्वरूप भी वाणी की अपेक्षा नहीं रखता और न वह ज्ञान की ही अपेक्षा रखता है। वह तो सदा सत्य ही है। उसे उसी रूप में जाननेवाला ज्ञान सत्य है, माननेवाली श्रद्धा सत्य है, कहनेवाली वाणी सत्य है और तद्नुकूल आचरण करनेवाला आचरण भी सत्य है। हम मूलसत्य को ही भूल गए हैं; तो उसके आश्रय से होनेवाले ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र एवं वाणी के सत्य हमारे जीवन में कैसे प्रकट हों ? पृष्ठ-८०

(३४१)

अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परमसत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है। पृष्ठ-८०

(३४२)

आज का युग समझौतावादी युग है। अति उत्साह में कुछ लोग वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में भी समझौते की बात करते हैं; किन्तु वस्तु के सत्यस्वरूप को समझने की आवश्यकता है, समझौते की नहीं। वस्तु के स्वरूप में समझौते की गुंजाइश भी कहाँ है और उसके सम्बन्ध में समझौता करनेवाले हम होते भी कौन हैं? समझौते में दोनों पक्षों को झुकना पड़ता है। समझौते का आधार सत्य नहीं, शक्ति होती है। समझौते में सत्यवादी की बात नहीं, शक्तिशाली की बात मानी जाती है। पृष्ठ-८०-८१

(३४३)

वस्तु के स्वरूप की सत्य समझ का नाम धर्म है। सत्य को समझौते की नहीं, समझने की आवश्यकता है। सत्य और शान्ति समझ से मिलती है, समझौते से नहीं। पृष्ठ-८१

उत्तम संयम

(३४४)

यदि विषयों की बाह्य प्रवृत्ति के त्याग का नाम ही संयम होता तो फिर वह देवों में अवश्य होना चाहिए था और मनुष्य एवं तिर्यंचों में उसकी सम्भावना कम होनी चाहिये थी। किन्तु शास्त्रों के अनुसार संयम देवों में नहीं, मनुष्यों में है। इससे सिद्ध होता है कि संयम मात्र बाह्य प्रवृत्ति का नाम नहीं, बल्कि उस पवित्र आन्तरिक वृत्ति का नाम है, जो मानवों में पाई जा सकती है; देवों में नहीं, चाहे उनकी बाह्य वृत्ति कितनी ही ठीक क्यों न हो।

पृष्ठ-८७

(३४५)

वस्तुत: संयम सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई उस परम पवित्र वीतराग परिणति का नाम है। पृष्ठ-८७

(३४६)

अंतरंग में उक्त वीतराग परिणति के अभाव में चाहे जैसा बाह्य त्याग दिखाई दे; वह व्यवहार से भी उत्तम संयमधर्म नहीं है। पृष्ठ-८७

(३४७)

छहकाय के जीवों की रक्षा में उनका ध्यान परजीवों की रक्षा की ओर ही जाता है। 'मैं स्वयं भी एक जीव हूँ' — इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। परजीवों की रक्षा का भाव करके सब जीवों ने पुण्यबंध तो अनेक बार किया; किन्तु परलक्ष्य से निरन्तर अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का जो घात हो रहा है, उसकी ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता। मिथ्यात्व और कषायभावों से यह जीव निरन्तर अपघात कर रहा है। इस महाहिंसा की इसे खबर ही नहीं है।

पृष्ठ-८८

(३४८)

ज्ञान और आनन्द को इन्द्रियों की पराधीनता से मुक्त कराना बहुत जरूरी है। तदर्थ हमें इन्द्रियों को जीतना होगा, जितेन्द्रिय बनना होगा। पृष्ठ-८९

(३४९)

यद्यपि इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इन्द्रियसुख सुख ही नहीं है। वह तो सुखाभास है, सुख-सा प्रतीत होता है; पर वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है, पापबंध का कारण होने से आगामी दुःख का भी कारण है। इसीप्रकार इन्द्रियाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक होने से मात्र जड़ को जानने में ही निमित्त हैं, आत्मा को जानने में वे साक्षात् निमित्त भी नहीं हैं।

विषयों में उलझाने में निमित्त होने से इन्द्रियाँ संयम में बाधक ही हैं, साधक नहीं।

पंचेन्द्रियों के जीतने के प्रसंग में भी सामान्यजनों का ध्यान इन्द्रियों के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष क़ी ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। इन्द्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं; पर इन्द्रियज्ञान भी हेय है, आत्महित के लिए अर्थात् अतीन्द्रिसुख और अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान की भी उपेक्षा आवश्यक है — इसे बहुत कम लोग जानते हैं।

पृष्ठ-८९, ९०

(३५०)

आत्मा के अनुभव के लिए जिसप्रकार इन्द्रियसुख त्याज्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रिज्ञान से भी विराम लेना होगा।

पृष्ठ-९०

(३५१)

इन्द्रियों क़े माध्यम से पुद्‌गल का ही ज्ञान होता है, क्योंकि वे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक हैं। आत्मा का हित आत्मा को जानने में है, अतः पर में लगा ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान की बर्बादी ही है, आबादी नहीं।

पृष्ठ-९३

(३५२)

उपयोग को पर-पदार्थों से समेटकर निज में लीन होना ही संयम है।

पृष्ठ-९४

आत्मा में जमना-रमना ही संयम है। अतः संयम को प्राप्त करने के लिये मात्र इन्द्रियभोगों को नहीं, इन्द्रियज्ञान को भी तिलाञ्जलि देनी होगी, चाहे वह अन्तर्मुहूर्त्त को ही सही। इन्द्रियज्ञान में उपादेय बुद्धि तो छोड़नी ही होगी। उसके बिना तो सम्यग्दर्शन भी सम्भव नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना संयम होता नहीं है। पृष्ठ-९५

(३५३)

'पंचेन्द्रिय मन वश करो' का आशय इन्द्रियों को तोड़ना-फोड़ना नहीं, वरन् उनके भोगों एवं उनके माध्यम से होनेवाली ज्ञान की बर्बादी को रोकना ही है। पृष्ठ-९५

(३५४)

वस्तुतः आत्मा को जाननेवाला ज्ञान ही आत्मा का है, आत्मज्ञान है। पर को जाननेवाला ज्ञान एक दृष्टि से ज्ञान ही नहीं है; वह तो अज्ञान है, ज्ञान की बर्बादी है। पृष्ठ-९६

उत्तम तप

(३५५)

जिस तप के लिए देवराज तरसें और जो तप कर्म-शिखर को बज्र-समान हो वह तप कैसा होता होगा — यह बात मननीय है। उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने या अन्य प्रकार से किये बाह्य कायक्लेशादि तक सीमित नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-९९

(३५६)

चाहे वे बाह्य तप हों या अंतरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप में वीतराग भाव की वृद्धि होनी ही चाहिए — तभी वह तप है, अन्यथा नहीं। पृष्ठ-१००

(३५७)

यद्यपि अंतरंग तप ही वास्तविक तप है, बहिरंग तप को उपचार से तपसंज्ञा है; तथापि जगतजनों को बाह्य तप करने वाला ही तपस्वी दिखाई देता है। पृष्ठ-१०१

(३५८)

उपवास तो कभी-कभी किया जाता है, पर स्वाध्याय और ध्यान प्रतिदिन किये जाते हैं। स्वाध्याय और ध्यान अन्तरंग तप हैं और तपों में सर्वश्रेष्ठ हैं। फिर भी यह जगत स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की अपेक्षा उपवासादि कायक्लेश करने वालों को ही महत्त्व देता है। पृष्ठ-१०२

(३५९)

प्रश्न — उपवास के नाम पर लंघन की बात क्यों करते हो ?

उत्तर — इसलिये कि ये लोग उपवास का भी तो सही स्वरूप नहीं समझते। मात्र भोजन के त्याग को उपवास मानते हैं, जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन है। पृष्ठ-१०२

(३६०)

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम। ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त्त करे तो निश्चित रूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारन्टी नहीं। यह नकली उपवास की बात नहीं, असली उपवास की बात है। प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष, एक माह और सात दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही केवलज्ञान हो गया। पृष्ठ-१०३

(३६१)

इनमें एक वैज्ञानिक क्रमिक विकास है। यदि चल सके तो भोजन करो ही नहीं (अनशन); न चले तो एक बार दिन में शान्ति से अल्पाहार लो (अवमौदर्य); वह भी अनेक नियमों के बीच में बँध कर, अनर्गल नहीं

(वृत्तिपरिसंख्यान); और जहाँ तक बन सके नीरस हो; क्योंकि सरस आहार गृद्धता बढ़ाता है, पर शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने वाला होना चाहिए, अतः सभी रसों का सदा त्याग नहीं, किन्तु बदल-बदल कर विभिन्न रसों का विभिन्न समयों पर त्याग हो, जिससे शरीर की आवश्यकता-पूर्ति भी होती रहे और जिह्वा की लोलुपता पर भी प्रतिबन्ध रहे (रसपरित्याग)।

इससे स्पष्ट है कि तप शरीर के सुखाने का नाम नहीं, इच्छाओं के निरोध का नाम है।

पृष्ठ-१०४

(३६२)

अन्य कार्यों में उलझे रहकर भोजन के पास फटकना ही नहीं की अपेक्षा निर्विघ्न भोजन की प्राप्ति हो जाने पर उसका स्वाद चख लेने पर भी अधपेट रह जाने में — बीच में ही भोजन छोड़ देने में इच्छा का निरोध अधिक है।

पृष्ठ-१०४

(३६३)

अनशन में इच्छाओं की अपेक्षा पेट का निरोध अधिक है। ऊनोदरादि में क्रमशः पेट के निरोध की अपेक्षा इच्छाओं का निरोध अधिक है। अतः अनशनादि की अपेक्षा आगे-आगे के तप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमने पेट के काटने को तप मान लिया है, जबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।

पृष्ठ-१०५

(३६४)

काय को क्लेश देना तप नहीं है, वरन् कायक्लेश के कारण आत्माराधना में शिथिल नहीं होना मुख्य बात है।

इच्छाओं का निरोध होकर वीतरागभाव की वृद्धि होना तप का मूल प्रयोजन है। कोई भी तप जबतक उक्त प्रयोजन की सिद्धि करता है, तबतक ही वह तप है।

पृष्ठ-१०६

(३६५)

माता-पिता आदि की विनय लौकिक विनय है और विनयतप में अलौकिक अर्थात् धार्मिक-आध्यात्मिक विनय की बात आती है।

विनयतप चाहे जहाँ माथा टेक देने वाले तथाकथित दीन गृहस्थों के नहीं, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त कहीं भी नहीं नमने वाले मुनिराजों के होता है।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नहीं, वैनयिक मिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यन्त महान आत्मिक दशा है। सही जगह होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वहीं गलत जगह की गई विनय अनन्त संसार का कारण बनती है।

विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलहकारण भावनाओं में विनयसम्पन्नता के रूप में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य और विनयमिथ्यात्व के रूप में अनन्त संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है। पृष्ठ-१०७

(३६६)

विनय का यदि सही स्थान पर प्रयोग हुआ तो तप होने से कर्म को काटेगी, किन्तु गलत स्थान पर प्रयुक्त विनय मिथ्यात्व होने से धर्म को ही काट देती है। यह एक ऐसी तलवार है जो चलाई तो अपने माथे पर जाती है और काटती है शत्रुओं के माथों को, पर सही प्रयोग हुआ तो। यदि गलत प्रयोग हुआ तो अपना माथा भी काट सकती है। अतः इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए। पृष्ठ-१०७

(३६७)

भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनन्दन और क्या होगा? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारंटी हो गई। पर इस मूर्ख जगत ने यदि 'भगवान' भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्तमान में हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नहीं बनाया, वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है।

पृष्ठ-१०८

(३६८)

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है, दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचारविनय है, चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचारविनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देवगुरुओं की विनय उपचारविनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अतः इसका उपचार भी धर्मात्माओं में ही किया जा सकता है; लौकिकजनों में नहीं। पृष्ठ-१०९

(३६९)

ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अन्तर में अनन्त बहुमान के भाव और उनकी पूर्णता को प्राप्त करने के भाव का नाम विनयतप है।

बाहर से नमनेरूप विनय तो कभी-कभी ही देखी जा सकती है, पर बहुमान का भाव तो सदा रहता है। अतः ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अत्यन्त महिमावंत मुनिराजों के विनयतप सदा ही रहता है। पृष्ठ-१०९

(३७०)

वैयावृत्ति का अर्थ सेवा होता है — यह सही है। पर सेवा का अर्थ पैर दबाना हमने लगा लिया है। वैयावृत्ति में पैर भी दबाये जाते हैं, पर पैर दबाना ही मात्र वैयावृत्ति नहीं है। सेवा स्व और पर दोनों की होती है। वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित में लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा में है। शुद्धोपयोग रूप रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है। पृष्ठ-११०

(३७१)

यहाँ-वहाँ का कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं है, आत्महितकारी शास्त्रों का अध्ययन-मनन-चिन्तन भी उपचार से स्वाध्याय है। वास्तविक स्वाध्याय तो आत्मज्ञान का प्राप्त होना ही है। स्व + अधि + अय = स्वाध्याय। 'स्व' माने निज का, 'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होना — इसप्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है; पर का ज्ञान तो पराध्याय है। पृष्ठ-१११

(३७२)

हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्ड रूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे सम्भव हो? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्ड रूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय कषाय में है।

'रुचि-अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वहीं लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी। पृष्ठ-११-१२

(३७३)

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं। पृष्ठ-११४

(३७४)

स्वाध्याय एक ऐसा तप है कि अन्य तपों में जो लाभ हैं वे तो इसमें हैं ही, साथ में यह ज्ञानवृद्धि का भी एक अमोघ उपाय है। इसमें कोई विशेष कठिनाई व प्रतिबंध भी नहीं हैं। चाहे जब कीजिए — दिन को, रात को; स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवक सभी करें। एक बार नियमित स्वाध्याय करके तो देखिये, इसके असीम लाभ से आप स्वयं भली-भाँति परिचित हो जावेंगे।

पृष्ठ-११४

(३७५)

अब रही बात ध्यान की। सो ध्यान तो सर्वोत्कृष्ट तप है। ध्यान की अवस्था में ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान से तात्पर्य आर्त्त-रौद्रध्यान से नहीं, शुभभावरूप धर्मध्यान से भी नहीं; बल्कि उस शुद्धोपयोगरूप ध्यान से है जो कर्म-ईंधन को जलाने में अग्नि का काम करता है। पृष्ठ-११५

(३७६)

वैसे तो दुकानदार ग्राहक का, डॉक्टर मरीज का, पति पत्नी का निरन्तर ही ध्यान करते हैं। पर मात्र चित्त का एक ओर ही एकाग्र हो जाना ध्यानतप नहीं है, वरन् 'स्व' में एकाग्र होना ध्यानतप है। भले ही पर में एकाग्र होना भी ध्यान हो, पर ध्यानतप नहीं। ध्यानतप तो समस्त 'पर' एवं विषय-विकारों से चित्त को हटाकर एक आत्मा में स्थिर होना ही है। यदि शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा एक अन्तर्मुहूर्त्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

पृष्ठ-११५

उत्तम त्याग

(३७७)

त्याग धर्म है और दान पुण्य। त्यागियों के पास रंचमात्र भी परिग्रह नहीं होता, जबकि दानियों के पास ढेर सारा परिग्रह पाया जा सकता है। पृष्ठ-११६

(३७८)

एक बात और भी स्पष्ट होती है कि त्याग परद्रव्यों का नहीं, अपितु अपनी आत्मा में परद्रव्यों के प्रति होने वाले मोह-राग-द्वेष का होता है; क्योंकि

परद्रव्य तो पृथक् ही हैं, उनका तो आज तक ग्रहण ही नहीं हुआ है; अत: उनके त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उन्हें अपना जाना है, माना है, उनसे राग-द्वेष किया है; अत: उन्हें अपना जानना, मानना (दर्शनमोह) एवं उनके प्रति राग-द्वेष करना (चारित्रमोह) छोड़ना है। पृष्ठ-११७

(३७९)

त्याग ज्ञान में ही होता है अर्थात् पर को पर जानकर उससे ममत्वभाव तोड़ना ही त्याग है। पृष्ठ-११८

(३८०)

त्याग पर को पर जानकर किया जाता है; पर दान में यह बात नहीं है; क्योंकि दान उसी वस्तु का दिया जाता है जो स्वयं की हो; परवस्तु का त्याग तो हो सकता है, दान नहीं। दूसरे की वस्तु उठाकर किसी को दे देना दान नहीं, चोरी है।

इसीप्रकार त्याग वस्तु को अनुपयोगी, अहितकारी जानकर किया जाता है; जबकि दान उपयोगी और हितकारी वस्तु का दिया जाता है।

उपकार के भाव से अपनी उपयोगी वस्तु पात्रजीव को दे देना दान है। पृष्ठ-११८

(३८१)

दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और अपने उपकार का गौण; किन्तु त्याग में स्वोपकार ही सब-कुछ है, दूसरों के उपकार के लिए मोह-राग-द्वेष नहीं त्यागे जाते हैं। यह बात अलग है कि अपने त्याग से प्रेरणा पाकर या अन्य किसी प्रकार से पर का भी उपकार हो जावे। पृष्ठ-११९

(३८२)

दानी को पैसे से मोह छूट नहीं गया है, छूट गया होता तो फिर एक लाख देकर तीन लाख कमाने को क्यों जाता? कमाने का पूरा-पूरा यत्न चालू है। इससे सिद्ध है कि पैसे के राग के त्याग के कारण दान नहीं दिया जा रहा है, बल्कि उपकार के भाव से दान दिया जाता है। यह बात अलग है कि उसकी लोभ कषाय कुछ मन्द अवश्य हुई है, अन्यथा दान भी सम्भव न होता; पर मन्द हुई है, अभाव नहीं; अभाव होता तो त्याग होता। पृष्ठ-१२०

(३८३)

मोह या राग के आंशिक अभाव में भी त्यागधर्म प्रकट होता है। यही कारण है कि त्यागी को उसका ध्यान भी नहीं आता, जिसे उसने त्यागा है। आना भी नहीं चाहिए, आवे तो त्याग कैसा? उसे त्यागी हुई वस्तु की संभाल का भी विकल्प नहीं आता; क्योंकि अब वह उसे अपनी मानता-जानता ही नहीं एवं उससे उसे राग भी नहीं रहा। उसका जो होना हो सो हो, उसे उससे क्या?

पृष्ठ-१२०

(३८४)

दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और त्याग में आत्महित का।

पृष्ठ-१२१

(३८५)

गहराई से विचार करें तो त्याग, मोह-राग-द्वेष का ही होता है; पर-पदार्थ तो मोह-राग-द्वेष के छूटने से स्वयं छूट जाते हैं। वे छूटे हुये ही हैं। इसीलिये भगवान को 'राग-द्वेष-परित्यागी' कहा गया है। पृष्ठ-१२१

(३८६)

'दान' व्यवहारधर्म है, अत: वह परोपकार सम्बन्धी विकल्पपूर्वक ही होता है। यही कारण है कि वह पुण्यबंध का कारण होता है, बंध के अभाव का कारण नहीं। जो व्यक्ति उसे निश्चयधर्म मानकर बंध के अभाव (मुक्ति) का कारण मान बैठते हैं वे तो गलती करते ही हैं, साथ ही वे भी गलती करते हैं जो उसे पुण्यबंध का कारण भी नहीं मानते अर्थात् व्यवहारधर्म भी स्वीकार नहीं करते।

पृष्ठ-१२२

(३८७)

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, लोभ छोड़ो। यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो। जो दु:खस्वरूप हैं, दु:खकर हैं, आत्मा का अहित करने वाले हैं – वे मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य

हैं, इनका ही त्याग किया जाता है। इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं — ऐसे पुत्रादि चेतन एवं धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है। पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारंटी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे। पृष्ठ-१२२

(३८८)

एक बात और भी समझ लीजिये। दान में कम से कम दो पार्टी चाहिए और दोनों को जोड़ने वाला माल भी चाहिए। आहार देने वाला, आहार लेने वाला और आहार; औषधि देने वाला, औषधि लेने वाला और औषधि — इन तीनों के बिना आहारदान या औषधिदान संभव नहीं है। यदि लेने वाला नहीं तो देंगे किसे? यदि वस्तु न हो तो देंगे क्या? पर त्याग के लिए कुछ नहीं चाहिये। जो अपने पास नहीं है — त्याग उसका भी किया जा सकता है। जैसे 'मैं शादी नहीं करूँगा' — इसमें किस वस्तु का त्याग हुआ? शादी का। लेकिन शादी की ही कहाँ है? जब शादी की ही नहीं तो त्याग किसका? करने के भाव का।

इसीप्रकार सर्व परिग्रह का त्याग होता है, पर सर्व परपदार्थरूप परिग्रह है कहाँ हमारे पास? अतः उसके ग्रहण करने के भाव का ही त्याग होता है। पृष्ठ-१२३-१२४

(३८९)

त्याग के लिए हम पूर्णतः स्वतंत्र हैं। उसमें हम जिसे त्यागें, उसे लेने वाला नहीं चाहिए, वस्तु भी नहीं चाहिए। पृष्ठ-१२४

(३९०)

इसप्रकार हम देखते हैं कि दान एक पराधीन क्रिया है, जबकि त्याग पूर्णतः स्वाधीन। जो क्रिया दूसरों के बिना सम्पन्न न हो सके, वह धर्म नहीं हो सकती। धर्म पर के संयोग का नाम नहीं, अपितु वियोग का है। कम से कम त्यागधर्म में तो पर के संयोग की अपेक्षा संभव नहीं है; त्याग शब्द ही वियोगवाची है।

यद्यपि इसमें शुद्धपरिणति सम्मिलित है, परन्तु पर का संयोग बिल्कुल नहीं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है, दान नहीं। कुछ ऐसी हैं जिनका दान होता है, त्याग नहीं। कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी। जैसे — राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ा जा सकता है, उनका दान नहीं दिया जा सकता; ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते; तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है। पृष्ठ-१२४

(३९१)

पर मैं सोचता हूँ चार दानों में तो पैसादान, रुपयादान नाम का कोई दान है नहीं; उनमें तो आहार, औषधि, ज्ञान और अभयदान हैं; यह पैसादान कहाँ से आ गया? पृष्ठ-१२६

(३९२)

दान निर्लोभियों की क्रिया थी, जिसे यश और पैसे के लोभियों ने विकृत कर दिया है। पृष्ठ-१२७

(३९३)

त्यागधर्म का यह दुर्भाग्य ही समझो कि उसकी चर्चा के लिए वर्ष में महापर्व दशलक्षण के दिनों में एक दिन मिलता है, उसे यह दान खा जाता है। दान क्या खा जाता है, दान के नाम पर होने वाला चन्दा खा जाता है। यह दिन चन्दा करने में चला जाता है, त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप की परिभाषा भी स्पष्ट नहीं हो पाती। पृष्ठ-१२७-१२८

(३९४)

समाज में त्याग धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि वह पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो, जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो, धर्म के नाम पर, विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गए हैं।

यही कारण है कि उत्तम त्यागधर्म के दिन हम त्याग की चर्चा न करके दान के गीत गाने लगते हैं। दान के भी कहाँ, दानियों के गीत गाने लगते हैं। दानियों के गीत भी कहाँ, एक प्रकार से दानियों के नाम पर यश के लोभियों के गीत ही नहीं गाते; चापलूसी तक करने लगते हैं। यह सब बड़ा अटपटा लगता है, पर क्या किया जा सकता है — सिवाय इसके कि इससे हम स्वयं बचें और त्यागधर्म का सही स्वरूप स्पष्ट करें; जिनका सद्भाग्य होगा वे समझेंगे, बाकी का जो होना होगा सो होगा।

यद्यपि चार दानों में पैसादान नहीं है तथापि उसका भी दान हो सकता है, होता भी है। पैसे के दान को दान ही नहीं मानने की बात नहीं कही जा रही है; पर वह ही सब-कुछ नहीं है — मात्र यह स्पष्ट किया है। पृष्ठ-१२८

(३९५)

दानी से त्यागी सदा ही महान होता है; क्योंकि त्याग धर्म है और दान पुण्य। पृष्ठ-१२९

(३९६)

संक्लेश परिणामों से दिया गया चन्दा दान नहीं हो सकता। दान तो उत्साहपूर्वक विशुद्धभावों से दिया जाता है। पृष्ठ-१३०

(३९७)

यशादि के लोभ से दान देनेवालों की आलोचना सुनकर दान नहीं देनेवालों को प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं है। नहीं देने से तो देना अच्छा ही है, मान के लिए ही सही; उनके देने से उन्हें भले ही उसका लाभ न मिले, पर तत्त्वप्रचार आदि का कार्य तो होता ही है। यह बात अलग है कि वह वास्तविक दान नहीं है। अतः दान का सही स्वरूप समझकर हमें अपनी शक्ति और योग्यतानुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए। पृष्ठ-१३१

(३९८)

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है, वह कम से कम उतना देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नहीं है। जो वस्तु हमारे पास नहीं है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नहीं करूँगा, सहज में प्राप्त हो जाने पर भी नहीं लूँगा — इसप्रकार त्याग किया जाता है। वस्तुत: यह उस वस्तु का त्याग नहीं, उसके प्रति होने वाले या सम्भावित राग का त्याग है।

लखपति अधिक से अधिक लाख का ही दान दे सकता है पर त्याग तो तीन लोक की सम्पत्ति का भी हो सकता है। परिग्रह-परिणामव्रत में निश्चित सीमा तक परिग्रह रखकर और समस्त परिग्रह का त्याग किया जाता है। वह सीमा - जितना अपने पास है, उससे भी बड़ी हो सकती है। पृष्ठ-१३२

(३९९)

दान कमाई पर प्रतिबंध नहीं लगाता, आप चाहे जितना कमाओ; पर त्याग में भले ही हम कुछ न दें, कुछ न छोड़ें; पर वह कमाई को सीमित करता है, उस पर प्रतिबंध लगाता है।

दान में यह देखा जाता है कि कितना दिया, यह नहीं देखा जाता कि उसने अपने पास कितना रखा है; जबकि त्याग में यह नहीं देखा जाता कि कितना दिया है या छोड़ा है, बल्कि यह देखा जाता है कि उसने अपने पास कितना रखा या रखने का निश्चय किया है, बाकी सबका त्याग ही है। यदि त्याग में कितना छोड़ा देखा जाता होता तो फिर चक्रवर्ती पद छोड़कर मुनि बनने वाले व्यक्ति सबसे बड़े त्यागी माने जाते; किन्तु नग्नदिगम्बर भावलिंगी सन्त अपनी वीतरागपरिणतिरूप त्याग से छोटे-बड़े माने जाते हैं; इससे नहीं कि वे कितना धन, राज-पाट, स्त्री-पुत्रादि छोड़ के आये हैं। यदि ऐसा होता तो फिर भरत चक्रवर्ती बड़े त्यागी एवं भगवान महावीर छोटे त्यागी माने जाते; क्योंकि भरतादि चक्रवर्तियों ने तो छ्यानवै हजार पत्नियों और छहखण्ड की विभूति छोड़ी थी। महावीर के तो पत्नी थी ही नहीं, छहखण्ड का राज भी नहीं था, वे क्या छोड़ते? लोक में भी बालब्रह्मचारी को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

दान में इतना देकर कितना रखा — इसका विचार नहीं किया जाता; पर त्याग में कितना रखा — यह देखा जाता है, कितना छोड़ा या दिया — यह नहीं। दान यदि देने का नाम है तो त्याग नहीं लेने को कहते हैं। देने वाले से, नहीं लेने वाला बड़ा होता है; क्योंकि देने वाला दानी है और नहीं लेने वाला त्यागी। जिसके पास सब-कुछ होता है, उसे राजा कहते हैं; और जिसके पास कुछ नहीं होता अर्थात् जो अपने पास कुछ भी नहीं रखता, जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे महाराजा कहा जाता है। पृष्ठ-१३२-१३३

(४००)

लोक में दानियों से अधिक सन्मान त्यागियों का होता है और वह उचित भी है; क्योंकि त्याग शुद्धभाव है और दान शुभभाव; त्याग धर्म है और दान पुण्य। पृष्ठ-१३३

(४०१)

त्याग एक ऐसा धर्म है, जिसे प्राप्त कर यह आत्मा अकिंचन अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म में लीन होने लगता है, हो जाता है और सारभूत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेता है। पृष्ठ-१३४

उत्तम आकिंचन्य

(४०२)

वस्तुतः आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है और उससे भिन्न परपदार्थों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले चिद्विकारों को अपना नहीं मानना, नहीं जानना और उनमें लीन नहीं होना ही आकिंचन्य है। पृष्ठ-१३५

(४०३)

यदि स्वलीनता ब्रह्मचर्य है तो पर में एकत्वबुद्धि और लीनता का अभाव आकिंचन्य है। अतः जिसे अस्ति से ब्रह्मचर्यधर्म कहा जाता है, उसे ही नास्ति से आकिंचन्यधर्म कहा गया है। इसप्रकार स्व-अस्ति ब्रह्मचर्य है और पर की नास्ति आकिंचन्य। पृष्ठ-१३५

(४०४)

जिसप्रकार क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान है; उसीप्रकार आकिंचन्य का विरोधी परिग्रह है अर्थात् आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्यधर्म कहा जाता है। अत: आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी हो सकता है। पृष्ठ-१३६

(४०५)

जब भी परिग्रह या परिग्रहत्याग की चर्चा चलती है — हमारा ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है; मिथ्यात्व, क्रोध, मान, लोभादि भी परिग्रह हैं — इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। क्रोध, मान, माया, लोभ की जब भी बात आयेगी तो कहा जायेगा कि ये तो कषायें हैं; पर कषायों का भी परिग्रह होता है — यह विचार नहीं आता।

जब जगत क्रोध-मानादि कषायों को भी परिग्रह मानने को तैयार नहीं तो फिर हास्यादि कषायों को कौन परिग्रह माने?

पाँच पापों में परिग्रह एक पाप है और हास्यादि कषायें परिग्रह के भेद हैं। पर जब हम हँसते हैं, शोकसंतप्त होते हैं, तो क्या यह समझते हैं कि हम कोई पाप कर रहे हैं या इनके कारण हम परिग्रही हैं?

बहुत से परिग्रह-त्यागियों को कहीं भी खिलखिलाकर हँसते, हड़बड़ाकर डरते देखा जा सकता है। क्या वे यह अनुभव करते हैं कि यह सब परिग्रह है?

जयपुर में लोग भगवान की मूर्तियाँ लेने आते हैं और मुझसे कहते हैं कि हमें तो बहुत सुन्दर मूर्ति चाहिये, एकदम हँसमुख। मैं उन्हें समझाता हूँ कि भाई! भगवान की मूर्ति हँसमुख नहीं होती। हास्य तो कषाय है, परिग्रह है और भगवान तो अकषायी, अपरिग्रही हैं; उनकी मूर्ति हँसमुख कैसे हो सकती है? भगवान की मूर्ति की मुद्रा तो वीतरागी शान्त होती है। पृष्ठ-१३७

(४०६)

घोर-पापों की जड़ मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है; एक नहीं, नम्बर एक का परिग्रह है, जिसके छूटे बिना अन्य परिग्रह छूट ही नहीं सकते — इस ओर भी कितनों का ध्यान है? होता तो मिथ्यात्व का अभाव किये बिना ही अपरिग्रही बनने के यत्न नहीं किये जाते।

परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म। जगत में जितनी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं — उन सबके मूल में परिग्रह है। जब मोह-राग-द्वेष आदि सभी विकारी भाव परिग्रह हैं तो फिर कौन-सा पाप बच जाता है, जो परिग्रह की सीमा में न आ जाता हो।

पृष्ठ-१३८

(४०७)

क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है। इसीप्रकार मार्दव मान के, आर्जव माया के तथा शौच लोभ के अभाव का नाम है। पर आकिंचन्यधर्म — क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद — सभी कषायों के अभाव का नाम है। अतः आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म है। पृष्ठ-१३८-१३९

(४०८)

जिन रुपयों-पैसों को जगत परिग्रह माने बैठा है, वह अंतरंग परिग्रह तो है ही नहीं, पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों में भी उसका नाम नहीं है। वह तो बाह्य परिग्रहों के विनिमय का कृत्रिम साधन मात्र है। पृष्ठ-१४०

(४०९)

साधन में साध्य का उपचार करके ही वह परिग्रह कहा जा सकता है, पर चौबीस परिग्रहों में नाम तक न होने पर भी आज यह पच्चीसवाँ परिग्रह ही सब-कुछ बना हुआ है। पृष्ठ-१४०

(४१०)

यदि रुपये-पैसे को ही परिग्रह मानें तो फिर देवों, नारकियों और तिर्यंचों में तो परिग्रह होगा ही नहीं; क्योंकि उनके पास तो रुपया-पैसा देखने में ही नहीं आता। उनमें तो मुद्रा का व्यवहार ही नहीं है, उन्हें इस व्यवहार का कोई प्रयोजन भी नहीं है; पर उनके परिग्रह का त्याग तो नहीं है।

इसीप्रकार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों को ही परिग्रह मानें तो फिर पशुओं को अपरिग्रही मानना होगा, क्योंकि उनके पास बाह्य परिग्रह देखने में नहीं आता। धन-धान्य, मकानादि संग्रह का व्यवहार तो मुख्यतः मनुष्य-व्यवहार

है। मनुष्यों में भी पुण्य का योग न होने पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह कम देखा जाता है तो क्या वे परिग्रहत्यागी हो गये? नहीं, कदापि नहीं।

जब आत्मा के धर्म और अधर्म की चर्चा चलती है तो उनकी परिभाषायें ऐसी होनी चाहिये कि वे सभी आत्माओं पर समान रूप से घटित हों। यही कारण है कि आचार्यों ने अंतरंग परिग्रह के त्याग पर विशेष बल दिया है।

पृष्ठ-१४३

(४११)

बाह्य परिग्रह त्याग देने पर भी यह आवश्यक नहीं कि अंतरंग परिग्रह भी छूट ही जायेगा। यह भी हो सकता है कि बाह्य में तिल-तुषमात्र भी परिग्रह न दिखाई दे, परन्तु अंतरंग में चौदहों परिग्रह विद्यमान हों। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनियों के यही तो होता है। प्रथम गुणस्थान में होने से उनमें मिथ्यात्वादि सभी अंतरंग परिग्रह पाये जाते हैं, पर बाह्य में वे नग्न दिगम्बर होते हैं।

पृष्ठ-१४४

(४१२)

वस्तुतः बात तो यह है कि धन-धान्यादि स्वयं में कोई परिग्रह नहीं हैं; बल्कि उनके ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव — परिग्रह है। जबतक परपदार्थों के ग्रहण या संग्रह का भाव न हो तो मात्र परपदार्थों की उपस्थिति से परिग्रह नहीं होता; अन्यथा तीर्थंकरों के तेरहवें गुणस्थान में होने पर भी देह व समोशरणादि विभूतियों का परिग्रह मानना होगा, जबकि अंतरंग परिग्रहों का सद्भाव दशवें गुणस्थान तक ही होता है।

पृष्ठ-१४४

(४१३)

परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व है, राग है- वास्तव में तो वही परिग्रह है। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तदनुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नहीं है; क्योंकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय में परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते हैं, पर ममत्व नहीं छूटता; बल्कि कभी-कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नहीं होता; बल्कि उसके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है - आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आंकिंचन्यधर्म का धनी बनता है। पृष्ठ-१४५

(४१४)

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अंतरंग परिग्रह है। जबतक यह नहीं छूटता, तबतक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता; पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नहीं है। पृष्ठ-१४६

(४१५)

पुण्य के उदय में अनुकूल परपदार्थों का बिना मिलाये भी सहज संयोग होता है। इसीप्रकार पाप के उदय में प्रतिकूल परपदार्थों का संयोग होता रहता है। यद्यपि इसमें इसका कुछ भी वश नहीं चलता; तथापि मिथ्यात्व और राग के कारण यह अज्ञानी जगत अनुकूल-प्रतिकूल संयोग-वियोगों में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि किया करता है। यही अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि, मिथ्यात्व नामक सबसे खतरनाक परिग्रह है। सबसे पहिले इसे छोड़ना जरूरी है। पृष्ठ-१४६

(४१६)

मिथ्यात्वरूपी जड़ को काट देने पर बाकी के परिग्रह समय पाकर स्वतः छूटने लगेंगे। पृष्ठ-१४६

(४१७)

यद्यपि मानना छोड़ना (मत परिवर्तन) बहुत बड़ा त्याग है, काम है; तथापि इस जगत को इसमें कुछ छोड़ा- ऐसा लगता ही नहीं है। यदि दश-पाँच लाख रुपये छोड़े, स्त्री-पुत्रादि को छोड़े , तो कुछ छोड़ा-सा लगता है; पर इन्हीं रुपयों को, स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना छोड़े तो कुछ छोड़ा-सा नहीं लगता। यह सब मिथ्यात्व नामक परिग्रह की ही महिमा है। उसी के कारण जगत को ऐसा लगता है। पृष्ठ-१४७

(४१८)

जगत के पदार्थ तो जगत में ही रहते हैं और रहेंगे, उन्हें क्या छोड़ें और कैसे छोड़ें? उन्हें अपना मानना और उनसे ममत्व करना ही तो छोड़ना है।

पृष्ठ-१४७

(४१९)

निश्चय से तो मकानादि छूटे ही हैं। अज्ञानी जीव ने उन्हें अपना मान रखा है, वे उसके हुए ही कब हैं? यह अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण स्वयं को उनका स्वामी मानता है, पर उन्होंने इसके स्वामित्व को स्वीकार ही कहाँ किया? उन्होंने इसे अपना स्वामी कब माना ? पृष्ठ-१४८

(४२०)

मिथ्यात्वादि अंतरंग परिग्रह के त्याग पर बल देने का आशय यह नहीं है कि बहिरंग परिग्रह के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं है या उसका कोई महत्त्व नहीं है। अंतरंग परिग्रह के त्याग के साथ-साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी नियम से होता है, उसकी भी अपनी उपयोगिता है, महत्त्व भी है; पर यह जगत बाह्य में ही इतना उलझा रहता है कि उसे अंतरंग की कोई खबर ही नहीं रहती। इस कारण यहाँ अंतरंग परिग्रह की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है।

पृष्ठ-१४९

(४२१)

बाह्य विभूति भी जैनियों के पास जितनी दुनिया समझती है, उतनी नहीं है। दिखावा अधिक होने से दुनिया को ऐसा लगता है। यदि है भी तो सदाचाररूप जीवन के कारण है, सप्तव्यसनादि का अभाव होने से सहज सम्पन्नता दिखाई देती है। जिस दिन जैन समाज से सदाचार उठ जायेगा, उस दिन उसकी भी वही दशा होगी जो व्यसनी समाज की होती है।पृष्ठ-१५०

(४२२)

अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से भी की जाती है। कुछ लोग तो दोनों को एक ही कहने लगे हैं। पर दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ समाजवाद का सम्बन्ध मात्र बाह्य वस्तुओं से है, उनके समान वितरण से है; वहाँ अपरिग्रह

में कषायों का त्याग मुख्य है। यदि बाह्य परिग्रह से भी समाजवाद की तुलना करें तो भी दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। पृष्ठ-१५१

(४२३)

यहाँ कोई कहे कि यदि यह बात है तो परिग्रह को पाप कहा ही क्यों है?

वह भले ही पुण्योदय से प्राप्त होता है, पर है तो पाप ही। वह ऐसा वृक्ष है; जिसमें बीज पड़ा था पुण्य का, वृक्ष उगा पाप का और फल लगे ऐसे कि खावे तो मरे अर्थात् पाप बाँधे और त्यागे तो जीवे अर्थात् पुण्य बाँधे। यह विविधता इसके स्वभाव में ही पड़ी है। यही कारण है कि सबसे बड़ा पाप होने पर भी जगत में परिग्रही को पुण्यात्मा कह दिया जाता है।

वस्तुत: बात तो ऐसी है कि पाप के उदय से कोई पापी और पुण्य के उदय से कोई पुण्यात्मा नहीं होता; परन्तु पापभाव करे सो पापी, पुण्यभाव करे सो पुण्यात्मा और धर्मभाव करे सो धर्मात्मा होता है। अन्यथा पूर्ण धर्मात्मा भावलिंगी मुनिराजों को भी पापी मानना होगा; क्योंकि उनके भी पाप का उदय आ जाता है, उससे उन्हें अनेक उपसर्ग एवं कुष्टादि व्याधियाँ हो जाती हैं; पर वे पापी नहीं हो जाते, धर्मभाव के धनी होने से धर्मात्मा ही रहते हैं। इसीप्रकार किसी वेश्या या डाकू के पास बहुत धनादि हो जाने से वे पुण्यात्मा नहीं हो जाते, पापी ही रहते हैं। पृष्ठ-१५४

उत्तम ब्रह्मचर्य

(४२४)

अत: यह स्पष्ट है कि निश्चय से ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। आज जो ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझा जाता है, वह अत्यन्त स्थूल है। आज मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन के त्यागरूप व्यवहार ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भी सम्पूर्ण विषयों के त्याग को नहीं, मात्र एक क्रियाविशेष (मैथुन) के त्याग को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, जबकि स्पर्शन इन्द्रिय का भोग तो अनेक प्रकार से संभव है।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषय आठ हैं - १. ठंडा, २. गरम, ३. कड़ा, ४. नरम, ५. सूखा, ६. चिकना, ७. हलका, और ८. भारी।

इन आठों ही विषयों में आनन्द अनुभव करना स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों का ही सेवन है। गर्मियों के दिनों में कूलर एवं सर्दियों में हीटर का आनन्द लेना स्पर्शन इन्द्रिय का ही भोग है। इसीप्रकार डनलप के नरम गद्दों और कठोर आसनों के प्रयोग में आनन्द अनुभव करना तथा रूखे-चिकने व हल्के-भारी स्पर्शों में सुखानुभूति- यह सब स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय हैं। पर अपने को ब्रह्मचारी मानने वालों ने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि ये सब स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं, हमें उनमें भी सुखबुद्धि त्यागनी होगी। इनसे भी विरत होना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि हम स्पर्शन इन्द्रिय के भी सम्पूर्ण भोग को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं मानते, अपितु एक क्रियाविशेष (मैथुन) को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं, और जैसे-तैसे मात्र उससे बचकर अपने को ब्रह्मचारी मान लेते हैं।

यदि आत्मलीनता का नाम ब्रह्मचर्य है तो क्या स्पर्शन इन्द्रिय के विषय ही आत्मलीनता में बाधक हैं, अन्य चार इन्द्रियों के विषय क्या आत्मलीनता में बाधक नहीं हैं? यदि हैं, तो उनके भी त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाना चाहिए। क्या रसना इन्द्रिय के स्वाद लेते समय आत्मस्वाद लिया जा सकता है? इसीप्रकार क्या सिनेमा देखते समय आत्मा देखा जा सकता है?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि आत्मा किसी भी इन्द्रिय के विषय में क्यों न उलझा हो, उस समय आत्मलीनता संभव नहीं है। जबतक पाँचों इन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति नहीं रुकेगी, तबतक आत्मलीनता नहीं होगी और जबतक आत्मलीनता नहीं होगी, तबतक पंचेन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति का रुकना भी संभव नहीं है। इसप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों से प्रवृत्ति की निवृत्ति यदि नास्ति से ब्रह्मचर्य है तो आत्मलीनता अस्ति से। पृष्ठ-१५६-१५७

(४२५)

तथा यदि स्त्री-संसर्ग के साथ-साथ पंचेन्द्रिय के विषयों को भी बाह्य से छोड़ दें, गरिष्ठादि भोजन भी न करें; फिर भी यदि आत्मलीनता रूप ब्रह्मचर्य

अन्तर में प्रकट नहीं हुआ तो भी हम सच्चे ब्रह्मचारी नहीं हो पावेंगे। अतः आत्मलीनतापूर्वक पंचेन्द्रिय के विषय का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

पृष्ठ-१५८

(४२६)

जब वे स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने की बात करते हैं तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियों के विषयों के त्याग से ही रहता है; क्योंकि स्पर्शन में पाँचों इन्द्रियाँ गर्भित हैं। आखिर रसना, नाक, कान और आँखें शरीररूप स्पर्शनेन्द्रिय के ही तो अंग हैं। स्पर्शनइन्द्रिय सारा ही शरीर है; जबकि शेष चार इन्द्रियाँ उसके ही अंश (Parts) हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय व्यापक है; शेष चार इन्दियाँ व्याप्य हैं।

पृष्ठ-१५८

(४२७)

स्पर्शन-इन्द्रिय को जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं, पर रसनादि के जीतने पर स्पर्शन-इन्द्रिय जीत ली गई - ऐसा नहीं माना जा सकता।

पृष्ठ-१५९

(४२८)

स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित सिद्ध भगवान ही हैं और वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ही। संसारी जीवों में तो कोई ऐसा है नहीं, जो स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित हो। इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयत्याग को ब्रह्मचर्य कहने में कोई दोष नहीं आता।

पृष्ठ-१५९

(४२९)

प्रश्न - एकेन्द्रियादि जीवों को ब्रह्मचारी मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर - यही की उनके आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य नहीं है, आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य सैनी पंचेन्द्रिय के ही होता है; तथा एकेन्द्रियादि जीवों के मोक्ष भी मानना पड़ता, क्योंकि ब्रह्मचर्यधर्म को पूर्णतः धारण करनेवाले मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं।

पृष्ठ-१५९

(४३०)

चार इन्द्रियाँ हैं खण्ड-खण्ड और स्पर्शन-इन्द्रिय है अखण्ड; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का आकार एवं स्पर्शन-इन्द्रिय का आकार बराबर एवं एक-सा है, जबकि अन्य इन्द्रियों के साथ ऐसा नहीं है। अखण्ड पद की प्राप्ति के लिए अखण्ड इन्द्रिय को जीतना आवश्यक है। पृष्ठ-१६०

(४३१)

हम जीतें खण्ड इन्द्रियों को और प्राप्त कर लें अखण्ड पद को।अखण्ड पद को प्राप्त करने के लिये जिसमें पाँचों ही इन्द्रियाँ गर्भित हैं ऐसी अखण्ड स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतना होगा।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रमुखरूप से स्पर्शन-इन्द्रिय के जीतने को ब्रह्मचर्य कहा है। पृष्ठ-१६०

(४३२)

आँख-कान-नाक और रसना के विषयों का सेवन तो कभी-कभी होता है, पर स्पर्शन का तो सदा चालू ही है। बदबू आवे तो नाक बन्द की जा सकती है, तेज आवाज में कान भी बन्द किये जा सकते है। आँख का भी बन्द करना संभव है। इस प्रकार आँख, नाक, कान, बन्द किये जा सकते हैं, पर स्पर्शन का क्या बन्द करें? वह तो सदा सर्दी-गर्मी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम का अनुभव किया ही करती है। पृष्ठ-१६०-१६१

(४३३)

अतः स्पर्शन-इन्द्रिय क्षेत्र से तो अखण्ड है ही, काल से भी अखण्ड है। शेष चार इन्द्रियाँ न क्षेत्र से अखण्ड हैं, न काल से। चारों इन्द्रियों के काल संबंधी खण्डपने एवं स्पर्शन के अखण्डपने का एक कारण और भी है। वह यह कि स्पर्शन-इन्द्रिय का साथ तो अनादि से लेकर आज तक अखण्डपने है, कभी भी उसका साथ छूटा नहीं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा के साथ संसारदशा में स्पर्शन-इन्द्रिय न रहे; पर शेष चार इन्द्रियाँ अनादि की तो हैं ही नहीं; क्योंकि निगोद में थी ही नहीं; जब से उनका संयोग हुआ है, छूट भी अनेक बार गई हैं। ये आनी-जानी हैं; आती हैं, चली जाती हैं, फिर आ जाती

हैं। इनसे छूटना न तो कठिन है, और न लाभदायक ही; पर स्पर्शन-इन्द्रिय का छूटना जितना कठिन है, उससे अधिक लाभदायक भी; क्योंकि इसके छूट जाने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह एक बार पूर्णतः छूट जावे तो दुबारा इसका संयोग नहीं होता।

चार इन्द्रियों की गुलामी तो कभी-कभी ही करनी पड़ती है, पर इस स्पर्शन के गुलाम तो हम सब अनादि से हैं। इसकी गुलामी छूटे बिना, गुलामी छूटती ही नहीं। जबतक स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को जीतेंगे नहीं तबतक हम पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकेंगे। इस स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को अपना महान शत्रु, त्रैकालिक शत्रु, सार्वभौमिक शत्रु जानकर ही आचार्यों ने इसके विषय त्याग को ब्रह्मचर्य घोषित किया है, पर इसका आशय यह कदापि नहीं कि हम चार इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुए सुखी हो जावेंगे; क्योंकि मर्म की बात तो यह है कि जबतक यह आत्मा आत्मा में लीन नहीं होगा, तबतक किसी न किसी इन्द्रिय का विषय चलता ही रहेगा और जब यह आत्मा आत्मा में लीन हो जावेगा तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं रहेगा।

अतः यह निश्चित हुआ है कि पंचेन्द्रिय के विषयों के त्यागपूर्वक हुई आत्मलीनता ही ब्रह्मचर्य है। पृष्ठ-१६१-१६२

(४३४)

पंचेन्द्रिय के विषय के भोगों के त्याग की बात तो यह जगत आसानी से स्वीकार कर लेता है; किन्तु जब यह कहा जाता है कि पंचेन्द्रिय के माध्यम से जानना-देखना भी आत्मा-रमणतारूप ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है; तो सहज स्वीकार नहीं करता। उसे लगता है कि कहीं ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भी ब्रह्मचर्य में बाधक हो सकता है? पर वह यह विचार नहीं करता कि आत्मा तो अतीन्द्रिय महापदार्थ है, वह इन्द्रियों के माध्यम से कैसे जाना जा सकता है? स्पर्शन-इन्द्रिय के माध्यम से तो स्पर्शवान पुद्गल पकड़ने में आता है, आत्मा तो स्पर्शगुण से रहित है। इसीप्रकार रसना का विषय तो है रस और आत्मा है अरस, घ्राण का विषय तो है गंध और आत्मा है अगंध, चक्षु का विषय है रूप और आत्मा है अरूपी, कर्ण का विषय है शब्द और आत्मा है शब्दातीत,

मन का विषय है विकल्प और आत्मा है विकल्पातीत – इसप्रकार सभी इन्द्रियाँ और अनिंद्रिय (मन) तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द एवं विकल्प के ग्राहक हैं और आत्मा अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी एवं शब्दातींत और विकल्पातीत है।

अतः इन्द्रियातीत-विकल्पातीत आत्मा को पकड़ने में, जकड़ने में इन्द्रियाँ और मन अनुपयोगी ही नहीं, वरन बाधक हैं, घातक हैं; क्योंकि जबतक यह आत्मा इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ही जानता-देखता रहेगा, तबतक आत्मदर्शन नहीं होगा। जब आत्मदर्शन ही न होगा तब आत्मलीनता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। पृष्ठ-१६२

(४३५)

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है; क्योंकि वे अपने को नहीं, पर को जानने-देखने में निमित्त हैं। सभी इन्द्रियों के दरवाजे बाहर को ही खुलते हैं, अन्दर को नहीं। आँख से आँख दिखाई नहीं देती, आँख के भीतर क्या है – यह भी दिखाई नहीं देता, पर बाहर क्या है- यह दिखाई देता है। इसीप्रकार रसना भी अन्दर का स्वाद नहीं लेती, वरन् बाहर से आने वाले पदार्थों को चखती है। घ्राण भी क्या भीतर की दुर्गंध सूंघ पाती है? जब वही दुर्गंध किसी रास्ते से निकलकर नाक में बाहर से टकराती है, तब नाक उसे ग्रहण कर पाती है। कान भी बाहर की ही सुनता हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय भी मात्र बाहर की सर्दी-गर्मी आदि के प्रति सतर्क दिखाई देती है। – इसप्रकार पाँचों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुखी वृत्तिवाली हैं।

बहिर्मुखी वृत्तिवाली एवं रूपरसादि की ग्राहक इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी वृत्ति का विषय एवं अरस, अरूपी आत्मा को जानने में सहायक कैसे हो सकती हैं? यही कारण है कि इन्द्रियभोगों के समान ही इन्द्रियज्ञान भी ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है। पृष्ठ-१६३

(४३६)

अल्पज्ञ आत्मा एक समय में एक को ही जान सकता है, एक में ही लीन हो सकता है। अतः जब यह पर को जानेगा, पर में लीन होगा; तब अपने को

जानना, अपने में लीन होना संभव नहीं है। इन्द्रियों के माध्यम से पर को ही जाना जा सकता है, पर में ही लीन हुआ जा सकता है; इनके माध्यम से न तो अपने को जाना ही जा सकता है, और न अपने में लीन ही हुआ जा सकता है। अतः इन्द्रियों के द्वारा परपदार्थों को भोगना तो ब्रह्मचर्य का घातक है ही, इनके माध्यम से बाहर का जानना-देखना भी ब्रह्मचर्य में बाधक ही है।

इसप्रकार इन्द्रियों के विषय - चाहे वे भोग्यपदार्थ हों, चाहें ज्ञेय पदार्थ; ब्रह्मचर्य के विरोधी ही हैं; क्योंकि वे आखिर हैं तो इन्द्रियों के विषय ही। इन्द्रियों के दोनों प्रकार के विषयों में उलझना,उलझना ही है; सुलझना नहीं। सुलझने का उपाय तो एक आत्मलीनतारूप ब्रह्मचर्य ही है। पृष्ठ-१६४

(४३७)

यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीवों को ही धर्म का आरंभ होता है, तथापि यह भी पूर्णतः सत्य है ही कि इन्द्रियों के नहीं; इन्द्रियों के जीतने से, उनके माध्यम से काम लेना बन्द करने पर धर्म का आरंभ होता है। पृष्ठ-१६४

क्षमावाणी

(४३८)

जिसप्रकार घड़ा जब आकण्ठ-आपूरित हो जाता है तो फिर उबलने लगता है, छलकने लगता है; उसीप्रकार जब हमारा हृदयघट क्षमाभावादिजल से आकण्ठ-आपूरित हो उठे, तब वही क्षमाभाव वाणी में भी छलकने लगे, झलकने लगे; तभी वह वस्तुतः वाणी की क्षमा अर्थात् क्षमावाणी होगी। किन्तु आज तो क्षमा मात्र हमारी वाणी में रह गई, अन्तर से उसका सम्बन्ध ही नहीं रहा है। पृष्ठ-१७६

(४३९)

कुटिल व्यक्ति क्रोध-मान को छिपा तो सकता है, पर क्रोध-मान का अभाव करना उसके वश की बात नहीं है। क्रोध-मान को दबाना और बात है तथा हटाना और। क्रोध-मानादि को हटाना क्षमा है, दबाना नहीं। पृष्ठ-१७७

(४४०)

यद्यपि क्षमा क्रोध के अभाव का नाम है; तथापि क्षमावाणी का संबंध मात्र क्रोध के अभावरूप क्षमा से ही नहीं, अपितु क्रोध-मानादि विकारों के अभावरूप क्षमा-मार्दवादि दशों धर्मों की आराधना एवं उससे उत्पन्न निर्मलता से है। पृष्ठ-१७७

(४४१)

क्षमा माँगने में बाधक क्रोधकषाय नहीं, अपितु मानकषाय है। क्रोधकषाय क्षमा करने में बाधक हो सकती है, क्षमा माँगने में नहीं। पृष्ठ-१७७

(४४२)

क्षमायाचना या क्षमाकरना दो प्राणियों की सम्मिलित (Combined) क्रिया नहीं है। यह एकदम व्यक्तिगत चीज है, स्वाधीन (Independent) क्रिया है। क्षमावाणी एक धार्मिक परिणति है, आध्यात्मिक क्रिया है। उसमें पर के सहयोग एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। यदि हम क्षमाभाव धारण करना चाहते हैं, तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जब कोई हमसे क्षमायाचना करे, तब ही हम क्षमा कर सकें अर्थात् क्षमा धारण कर सकें। अपराधी द्वारा क्षमायाचना नहीं किये जाने पर भी उसे क्षमा किया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर क्षमा धारण करना भी पराधीन हो जाता।

यदि किसी ने हमसे क्षमायाचना नहीं की, तो उसने स्वयं की मानकषाय का त्याग नहीं किया और यदि हमने उसके द्वारा क्षमायाचना किए बिना ही क्षमा कर दिया तो हमने अपने क्रोधभाव का त्याग कर उसका नहीं, अपना ही भला किया है। इसीप्रकार हमारे द्वारा क्षमायाचना करने पर भी यदि कोई क्षमा नहीं करता है, तो क्रोध का त्याग नहीं करने से उसका ही बुरा होगा। हमने तो क्षमायाचना द्वारा मान का त्याग कर, अपने में मार्दवधर्म प्रकट कर ही लिया। उसके द्वारा क्षमा नहीं करने से, क्षमा माँगने से होने वाले लाभ से हम वंचित नहीं रह सकते। पृष्ठ-१८०-१८१

(४४३)

कोई जीव हमसे क्षमा माँगे, चाहे नहीं; हमें क्षमा करे,चाहे नहीं; हम तो अपनी ओर से सबको क्षमा करते हैं और सबसे क्षमा माँगते हैं - इसप्रकार हम तो अब किसी के शत्रु नहीं रहे और न हमारी दृष्टि में कोई हमारा शत्रु रहा है। जगत हमें शत्रु मानो तो मानो, जानो तो जानो; हमें इससे क्या ? और हमारा दूसरे की मान्यता पर अधिकार भी क्या है? हम तो अपनी मान्यता सुधार कर अपने में जाते हैं, जगत की जगत जाने - ऐसी वीतराग परिणति का नाम ही सच्चे अर्थों में क्षमावाणी है। पृष्ठ-१८१

(४४४)

अपनी वासनाओं को, कषायों को मारना; विकारों को जीतना ही वास्तविक वीरता है। युद्ध के मैदान में दूसरों को जीतने वाले, मारने वाले युद्धवीर हो सकते हैं; धर्मवीर नहीं। धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है; युद्धवीर नहीं। पृष्ठ-१८३

(४४५)

क्षमायाचना और क्षमादान - ये दोनों ही वृत्तियाँ हृदय को हल्का करने वाली उदात्त वृत्तियाँ हैं, वैरभाव को मिटाकर परमशान्ति प्रदान करने वाली हैं। प्रदान करने वाली भी क्या, अन्तर में प्रकट शान्ति का प्रतिफलन ही हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस अज्ञानी आत्मा ने दूसरों से तो अनेकों बार क्षमायाचना की है, दूसरों को ही अनेकों बार क्षमा प्रदान भी की है, पर आज तक स्वयं से न तो क्षमायाचना ही की हैऔर न स्वयं को क्षमा ही किया है। इसलिए अनन्त दुःखी भी है। पृष्ठ-१८४

(४४६)

जबतक आप स्वयं अपने आत्मा की सुध-बुध नहीं लेंगे, उसे नहीं जानेंगे, नहीं पहिचानेंगे, उसमें ही नहीं जम जायेंगे, नहीं रम जायेंगे; तबतक इन अपराधों के फल आकुलता और अशान्ति से मुक्ति मिलने वाली नहीं है। पृष्ठ-१८५

(४४७)

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और उससे क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें। स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती। तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है। पृष्ठ-१८५



अशुचिभावना

जिस देह को निज जानकर नित रम रहा जिस देह में।
जिस देह को निज मानकर रच-पच रहा जिस देह में॥
जिस देह में अनुराग है एकत्व है जिस देह में।
क्षण एक भी सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में॥

क्या-क्या भरा उस देह में अनुराग है जिस देह में।
उस देह का क्या रूप है आतम रहे जिस देह में॥
मलिन मल पल रुधिर कीकस वसा का आवास है।
जड़रूप है तन किन्तु इसमें चेतना का वास है॥

चेतना का वास है दुर्गन्धमय इस देह में।
शुद्धात्मा का वास है इस मलिन कारागेह में॥
इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायगी॥

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

बारह भावना : एक अनुशीलन

मेरी भावना

(४४८)

वैराग्यवर्धक बारह भावनाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती है, विषय-कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती हैं, जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में संलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं; जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। पृष्ठ-२

अनुप्रेक्षा : एक अनुशीलन

(४४९)

पद्यमय बारह भावनाओं का गाना, गुनगुनाना हमारी धर्मशील माता-बहिनों की दिनचर्या का मुख्य अंग है। आध्यात्मिक-धार्मिकजनों का यह सर्वाधिक प्रिय मानसिक भोजन है। पृष्ठ-१०

(४५०)

चिन्तन ध्यान का प्रारम्भिक रूप है। रुचि ध्यान की नियामक होने से चिन्तन की भी नियामक है। जो विषय हमारी रुचि का होता है, उस पर सहज ही ध्यान जाता है, उसका चिन्तन-मनन भी सहज ही चलता है। किसी विषय को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी चिन्तन को प्रेरित करती है। जिज्ञासा जितनी प्रबल होगी, उसी के अनुपात में चिन्तन भी गम्भीर होगा। अतः चिन्तन शोध-खोज (रिसर्च) का आधार भी बनता है। पृष्ठ-१२

(४५१)

अनित्यादि विषयों का चिन्तन जब ज्ञानरूप होता है, तब वह अनुप्रेक्षा कहलाता है और जब अनित्यादि विषयों में चित्त एकाग्र होता है, तब धर्मध्यान नाम पाता है। पृष्ठ-१२

(४५२)

विषय-कषाय की पूर्ति के लक्ष्य से किया गया चिन्तन अनुप्रेक्षा नहीं, चिन्ता है; जो चिता से भी अधिक दाहक होती है। पृष्ठ-१३

(४५३)

आवश्यकता चिन्तन और ध्यान के प्रशिक्षण की नहीं, अपितु सम्यक् दिशानिर्देश की है; क्योंकि चिन्तन और ध्यान तो संज्ञी प्राणी के सहज स्वभाव हैं। चिन्तन की धारा और ध्यान का ध्येय यदि सम्यक् न हो, स्पष्ट न हो तो चिन्तन और ध्यान भवतापनाशक न होकर भव-भव भटकाने के हेतु भी बन सकते हैं; अत: चिन्तन की धारा का नियमन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पृष्ठ-१३

(४५४)

आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक और अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं; प्रत्येक के क्रम में भी एक सहज विकास दृष्टिगोचर होता है। पृष्ठ-१३

(४५५)

आरम्भ की छह भावनाएँ मुख्य रूप से भावभूमि को जोतने एवं वैराग्यरस से सींचने का ही काम करती हैं; जो कि अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। पृष्ठ-१५

(४५६)

आत्मार्थी मुमुक्षुओं के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन कभी-कभी का नहीं, प्रतिदिन का कार्य है। पृष्ठ-१५

(४५७)

पुत्र-परिवार, कंचन-कामिनी एवं देह में रत जगत को इन संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणतां, असारता आदि के परिज्ञान की हेतुभूत बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है। पृष्ठ-१६

(४५८)

अनित्यभावना में यह बताया जाता है कि जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहनेवाले नहीं; या तो ये तुझे छोड़कर चल देंगे या फिर तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सब सहज ही छूट जावेंगे।

इस बात को सुनकर यह रागी प्राणी इनकी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब अशरणभावना में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मन्त्र-तन्त्र नहीं; जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।

तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही; तब इसे संसारभावना के माध्यम से समझाते हैं कि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दुःखरूप ही हैं। तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में एकत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि दुःख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे। इसी बात को नास्ति से अन्यत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि कोई साथ नहीं दे सकता। जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे?

अशुचिभावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है; वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।

इसप्रकार आरम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब आस्रवभावना में आत्मा में उत्पन्न मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं। यह बताते हैं कि ये आस्रवभाव दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण हैं, मलिन हैं; और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।

इसप्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर संवर-निर्जराभावना में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। फिर लोकभावना में लोक का स्वरूप बताकर बोधिदुर्लभभावना में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है; और सब संयोग तो अनन्तबार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई; यदि हुई होती तो संसार से पार हो गये होते। अन्त में धर्मभावना में यह बताते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति में ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है। यही कारण है कि बारह भावनाओं का चिन्तन आत्मार्थी समाज का सर्वाधिक प्रिय मानसिक दैनिक भोजन है। पृष्ठ-१६-१७-१८

(४५९)

यद्यपि इन बारह भावनाओं का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए समानरूप से हितकारी है, तथापि इनका सम्यक् स्वरूप न जान पाने के कारण अज्ञानीजन लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक उठाया करते हैं। पहले शरीरादि संयोगों को भला जानकर उनसे अनन्त अनुराग करते थे; पर जब बारह भावनाओं में निरूपित शरीरादि संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, अशुचिता आदि दोषों को जान लेते हैं तो उनसे द्वेष करने लगते हैं। बारह भावनाओं के चिन्तन का सच्चा फल तो वीतरागता है, उसकी प्राप्ति उन्हें नहीं हो पाती है। पृष्ठ-१८

अनित्यभावना : एक अनुशीलन

(४६०)

पर्यायों की अस्थिरता, क्षणभंगुरता का वैराग्यपरक चिन्तन ही अनित्यभावना का मुख्य अभीष्ट है; क्योंकि आत्महित के लिए संयोगी पर्यायों पर दृष्टि केन्द्रित करना उपयोगी नहीं; अपितु उन पर से दृष्टि हटाना आवश्यक है, दृष्टि को पर्यायों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख करना आवश्यक है। पृष्ठ-२२

(४६१)

पूर्ण वीतरागता के अभाव में देव-शास्त्र-गुरु, शिष्य, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि व देहादि संयोगों तथा शुभराग, विशिष्ट क्षयोपशमज्ञानादि पर्यायों में रागात्मक विकल्प यथासम्भव भूमिकानुसार सम्यग्ज्ञानियों के भी पाये जाते हैं, इष्ट संयोगों के वियोग में उनका भी चित्त अस्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता के लिए वे भी संयोगों व पर्यायों की क्षणभंगुरता का बार-बार विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं। उनका यह चिन्तन आम्नाय-स्वाध्यायरूप ही समझना चाहिए। पृष्ठ-२४

(४६२)

अज्ञानजन्य व्याकुलता दूर करने के साथ-साथ राग-द्वेषजन्य व्याकुलता दूर करने के लिए भी संयोगों और पर्यायों की अस्थिरता-क्षणभंगुरता का चिन्तन निरन्तर आवश्यक है। यही कारण है कि अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी, संयमी-असंयमियों — सभी को उपयोगी है, आवश्यक है, सुखकर है, शान्तिदायक है, परम अमृत है। पृष्ठ-२४

(४६३)

मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है, उसे किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। उसे सहज भाव में स्वीकार कर लेने में ही शान्ति है, आनन्द है। सत्य को स्वीकार करना ही सन्मार्ग है। पृष्ठ-२५

(४६४)

यद्यपि संयोगी पदार्थों एवं पर्यायों की क्षणभंगुरता का ही ज्ञान कराया गया है; तथापि प्रयोजन उनसे विरक्ति उत्पन्न करना है, दृष्टि को वहाँ से हटाकर

स्वभावसन्मुख ले जाना है। यही कारण है कि अनित्य भावना में जहाँ एक ओर पर्यायों की अनित्यता की चर्चा की जाती है तो दूसरी ओर द्रव्यस्वभाव की नित्यता का ज्ञान भी कराया जाता है। पृष्ठ-२६

(४६५)

समताभाव की प्राप्ति का एकमात्र उपाय वृत्ति का स्वभावसन्मुख होना ही है। पृष्ठ-२७

(४६६)

जब अनित्यता आत्मवस्तु का पर्यायगत स्वभाव है तो वह दु:खकर कैसे हो सकती है। तत्सम्बन्धी विचार-चिन्तन भी आकुलता का उत्पादक नहीं हो सकता। यदि स्वभाव और उसका चिन्तन-विचार भी आकुलता उत्पन्न करेंगे तो फिर सुख और शान्ति का कोई उपाय ही शेष न रहेगा; क्योंकि सुख और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तो वस्तुस्वभाव का सम्यक्ज्ञान-श्रद्धान ही है। पृष्ठ-२८

(४६७)

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थाई होते तो फिर मोक्ष कैसे होता? अत: संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है। पृष्ठ-२८

(४६८)

परिवर्तन का स्वरूप भी तो हमारे पक्ष में ही है। अनन्त-दु:खरूपसंसार का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष तो प्रकट होता है; पर मोक्ष का अभाव होकर फिर संसार-अवस्था प्रकट नहीं होती। अनन्तदु:ख विनाशीक है और अनन्तसुख अविनाशी है। — इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी?

पर्यायों और संयोगों को स्थिर रखने का विकल्प निरर्थक तो है ही, अविचारितरमणीय भी है। यदि लौकिकदृष्टि से विचार करें, तब भी मृत्यु एक

शाश्वत सत्य है, जबकि अमरता एक काल्पनिक उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं है; क्योंकि भूतकाल में हुए अगणित वीरों में से आज कोई भी तो दिखाई नहीं देता। यदि किसी को सशरीर अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे बीच अवश्य होते। पृष्ठ-२८-२९

(४६९)

संयोगों और पर्यायों की अनित्यता को जब हम अपनी मिथ्या मान्यताओं और राग-द्वेष के चश्मे से देखते हैं तो वह दु:खकर प्रतीत होती है, यदि सम्यग्ज्ञान के आलोक में देखें तो वस्तु का स्वभाव होने से शान्ति और सुखोत्पादक ही प्रतीत होंगी। दोष हमारी दृष्टि में है और उसे हम खोज रहे हैं लोक में। षट्द्रव्यरूपी लोक तो अपने परिणमनस्वभाव में पूर्ण व्यवस्थित है; अत: परिवर्तन लोक में नहीं, अपनी दृष्टि में करना है; किन्तु जगतजन जगत को अपने राग-द्वेषात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं और तदनुसार ही उसे परिणमित करना चाहते हैं। उल्टी गंगा बहाने के इस दुष्प्रयत्न में हमने अनन्तकाल बिताया है और अनन्त दु:ख भी उठाये हैं।

अब समय आ गया है कि हम वस्तु के परिणमनस्वभाव को सहजभाव से स्वीकार करें; संयोगों की क्षणभंगुरता का आपत्ति के रूप में नहीं, सम्पत्ति के रूप में प्रसन्नचित्त से स्वागत करें; संयोग-वियोगों में सहज समताभाव रखें, संयोगों को मिलाने-हटाने के निरर्थक विकल्पों से यथासंभव विरत रहें; अपनी दृष्टि को परिणमनशील संयोगों और पर्यायों से हटाकर अपरिणामी द्रव्यस्वभाव की ओर ले जावे; क्योंकि अनित्यभावना के सम्यक् चिन्तन का यही सुपरिणाम है। पृष्ठ-३०-३१

अशरणभावना : एक अनुशीलन

(४७०)

सभी प्रकार के संयोग और पर्यायें अध्रुव हैं, अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं; तथा द्रव्यस्वभाव ध्रुव है, नित्य है, चिरस्थाई है, अत: भला इसी में है कि हम इस शाश्वत सत्य को सहजभाव से स्वीकार कर लें तथा पर और पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभावसन्मुख हों। पृष्ठ-३४

(४७१)

अज्ञानी को अज्ञानवश तथा कदाचित् ज्ञानी को भी रागवश संयोगों और पर्यायों को स्थिर करने की विकल्पतरंगें उठा ही करती हैं। उन निरर्थक विकल्पतरंगों के शमन के लिए ही अशरणभावना का चिन्तन किया जाता है।

पृष्ठ-३४

(४७२)

यथासमय स्वयं विघटित होनेवाले संयोगों एवं पर्यायों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, उनका विघटन अनिवार्य है; क्योंकि उनकी यह सहज परिणति ही है।

पृष्ठ-३४

(४७३)

संयोगों और पर्यायों की सुरक्षा में किए गये अगणित प्रयत्नों में से आज तक किसी का एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ है और न कभी भविष्य में भी सफल होगा; अतः इन निरर्थक प्रयासों में उलझना ठीक नहीं है।

पृष्ठ-३४

(४७४)

अशरणभावना में संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का, अशरणता का गहराई से बोध कराया जाता है। पृष्ठ-३७

(४७५)

अनित्यभावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्यस्वभाव का चिन्तन होता है और अशरणभावना में उनके ही अशरणस्वभाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्यता के समान अशरणता भी वस्तु का स्वभाव है। जिसप्रकार अनित्यस्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; उसीप्रकार अशरणस्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतंत्रता की सूचक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र है।

पृष्ठ-३७

(४७६)

अशरण का अर्थ है असहाय। जिसे पर की सहायता की — शरण की आवश्यकता नहीं; वस्तुतः वही असहाय है, अशरण है। पृष्ठ-३७

(४७७)

अशरण अहस्तक्षेप का सूचक है। किसी भी द्रव्य के परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं चलता। कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वस्तु की इस स्वभावगत विशेषता का चित्रण एवं पर्यायों के स्वतंत्र क्रमनियमित परिणमन का चिन्तन ही अशरण भावना का मूल है। निमित्तों की अकिंचित्करता का सशक्त दिग्दर्शन ही अशरणभावना का आधार है।

पृष्ठ-३८-३९

(४७८)

अनित्यभावना का केन्द्रबिन्दु है — 'मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार' और अशरणभावना कहती है कि — 'मरतैं न बचावे कोई' — यही इन दोनों में मूलभूत अन्तर है। पृष्ठ-३९

(४७९)

अनित्य या अशरणभावना के सन्दर्भ में मृत्यु की अनिवार्यता और अशरणता की चर्चा समस्त संयोगों और पर्यायों की अनिवार्यता एवं अशरणता के प्रतिनिधि के रूप में ही समझना चाहिए। पृष्ठ-३९

(४८०)

जिनवाणी में निश्चय से शुद्धात्मा को और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी या रत्नत्रयधर्म को शरण क्यों कहा है?

इन्हें शरण कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ये तुझे मरने से बचा लेंगे या संयोगों के वियोगों को रोक देंगे या पर्यायों के परिणमन को अवरुद्ध कर देंगे या जगत को तेरी इच्छानुसार परिणमित कर देंगे।

वस्तु का परिणमन (संयोग-वियोगरूप) तो जब जैसा होना है, वैसा ही होगा; उसमें तो किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन किसी के भी द्वारा सम्भव

नहीं है, न शुद्धात्मा के द्वारा और न पंचपरमेष्ठी द्वारा ही। हाँ, यह बात अवश्य है कि परिवर्तन करने के संकल्प-विकल्पों में उलझे आकुल-व्याकुल प्राणी यदि शुद्धात्मा या पंचपरमेष्ठी का आश्रय लें, तो तत्सम्बन्धी आकुलता-व्याकुलता से मुक्त अवश्य हो सकते हैं। पृष्ठ-४०-४१

(४८१)

शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी — दोनों में मृत्यु से बचने के लिए कोई शरण नहीं है; किन्तु आकुलता-व्याकुलता से बचकर सुखी रहने के लिए शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी ही शरण हैं। पृष्ठ-४१

(४८२)

अशरणभावना का मूल प्रयोजन संयोगों और पर्यायों की अशरणता का ज्ञान कराकर दृष्टि को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए संयोगों और पर्यायों को अशरण बताया जाता है और इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी को शरणभूत या परमशरण बताया जाता है। पृष्ठ-४१

(४८३)

अशरणभावना में अकेली अशरणता की चर्चा अपना प्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ होने से अधूरी ही रहती; क्योंकि संयोगों और पर्यायों के अशरण बताये जाने पर दृष्टि को वहाँ से हटाने की प्रेरणा तो मिलती; परन्तु परमशरणभूत शुद्धात्मा के भान बिना, शुद्धात्मा को शरणभूत बताये बिना दृष्टि जमती कहाँ? यही कारण है कि दृष्टि के विषयभूत शुद्धात्मा को शरण बताना आवश्यक समझा गया। पृष्ठ-४२

(४८४)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अशरणभावना में संयोगों और पर्यायों की अशरणता की चर्चा को पूर्णता प्रदान करनेवाली होने से शुद्धात्मा की चर्चा अनावश्यक नहीं, अपितु परमावश्यक है। पृष्ठ-४२

(४८५)

यदि शान्ति और आनन्द की चाह है तो आनन्द के धाम और शान्ति के सागर आत्मस्वभाव में समा जाओ, वही परमशरण है। आत्मस्वभाव की आराधनारूप धर्म भी शरण है, उसके प्रतिपादक देव-गुरु-शास्त्र भी शरण हैं। इन सबकी शरण में जाने से पर्यायों और संयोगों का विघटन तो न मिट सकेगा, पर तज्जन्य आकुलता और अशान्ति अवश्य मिट जावेगी। पृष्ठ-४३

संसारभावना : एक अनुशीलन

(४८६)

संसारभावना में यह चिन्तन किया जाता है कि संयोगों में सुख नहीं है, संयोगों में सुख की कल्पना ही दु:ख का मूल है। पृष्ठ-४७

(४८७)

प्रतिकूल संयोगों को दूरकर एवं अनुकूल संयोगों को मिलाकर सुखी होने की दिशा में किये गये किसी के भी प्रयत्न न तो आजतक सफल हुए हैं और न कभी होंगे; अत: संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने में ही सार है, शेष सब संसार है।

सुख की लालसा से संयोगों की ओर देखनेवाले जगत को इस बात का विचार करना, चिन्तन करना, मंथन करना अत्यन्त आवश्यक है कि जिन संयोगों के लिए तू इतना लालायित हो रहा है, जिन्हें जुटाने के लिए सबकुछ भूलकर जमीन-आसमान एक कर रहा है; उनमें सुख है भी या नहीं, उनके मिल जाने पर सुख प्राप्त होगा भी या नहीं?

कहीं ऐसा न हो कि सम्पूर्ण जीवन उनके जुटाने में ही बीत जावे और वे जुट ही न पावें; क्योंकि इन संयोगों का जुटाना मेंढकों के तोलने जैसा असाध्य है; तराजू पर एक रखो तो दो उछलकर नीचे कूद पड़ते हैं। जबतक एक संयोग जुटता है. तबतक दूसरा बिखर जाता है। पृष्ठ-४८-४९

(४८८)

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है;

कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिए संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिए तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है, उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है। पृष्ठ-५०-५१

(४८९)

जिसप्रकार संयोग न सुखस्वरूप हैं और न सुख के कारण हैं, उसीप्रकार न दुःख रूप हैं और न दुःख के कारण ही हैं; वे तो परपदार्थ हैं, निमितमात्र हैं। दुःख के मूलकारण तो संयोगीभाव हैं, संयोग के आश्रय से उत्पन्न हुए आत्मा के ही विकारीभाव हैं। संयोगीभाव-विकारीभाव ही वस्तुतः संसार है। पृष्ठ-५१

(४९०)

स्नेह को ही संसार कहा गया है और इसी प्रीति को चतुर्गति-भ्रमण का कारण बताया गया है। चूँकि परसंग से पर के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है; इसलिए परसंग के त्याग की भी सलाह दी गई है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव ही संसार हैं। ये भाव परलक्ष्य से आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं, आत्मा की ही दुःखरूप अवस्थाएँ हैं। पृष्ठ-५१-५२

(४९१)

लोक मात्र ज्ञेय है, पर संसार हेय भी है। षट्द्रव्यमयी लोक को मात्र जानना है, पर संसार का तो अभाव भी करना है। जिनागम का समस्त उपदेश भव (संसार) के अभाव के लिए ही है। इन बारह भावनाओं का चिन्तन भी चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार से विरक्ति उत्पन्न कर मोह-राग-द्वेषरूप संसार का अभाव करने के लिए ही किया जाता है। पृष्ठ-५३

(४९२)

जिसप्रकार संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में लोक का भौगोलिक चिन्तन होता है; उसीप्रकार लोकभावना में भी हो सकता है। संसारभावना में

संयोगों की निरर्थकता एवं संयोगीभावों की दुःखरूपता का चिन्तन किया जाता है। पृष्ठ-५३

(४९३)

संसारभावना की सीमा संयोग और संयोगीभावों तक ही है। संयोगों की निरर्थकता और संयोगीभावों की दुःखरूपता का चिन्तन ही संसारभावना की मर्यादा है। पृष्ठ-५३-५४

(४९४)

अनित्यभावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता एवं संसारभावना में उन्हीं संयोगों की निरर्थकता बताई जाती है। पृष्ठ-५४

(४९५)

जिसप्रकार अनित्यभावना में संयोगों की अनित्यता के साथ-साथ स्वभाव की नित्यता का भी चिन्तन किया जाता है, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता के साथ-साथ स्वभाव की शरणभूतता का भी चिन्तन किया जाता है; उसीप्रकार संसारभावना में भी संयोगों की असारता के साथ-साथ स्वभाव की सारभूतता का भी भरपूर चिन्तन किया जाता है। पृष्ठ-५४

(४९६)

संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता एवं निरर्थकता का भान हुए बिना दृष्टि संयोगों पर से नहीं हटेगी; इसीप्रकार स्वभाव की महिमा आए बिना दृष्टि स्वभावसन्मुख नहीं होगी। ध्यान रहे दृष्टि के स्वभावसन्मुख होने से ही सम्यग्दर्शनादि स्वभावभावों (मोक्षमार्ग) की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। पृष्ठ-५५

(४९७)

संसार दुःखों से मुक्त होने के लिए मुक्ति के मार्ग का पथिक होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। स्वभावसन्मुखता के अतिरिक्त और कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है; क्योंकि दृष्टि के संयोगविमुख और स्वभावसन्मुख होते ही स्वभाव के साधन संवर-निर्जरा की उत्पत्ति होकर वृद्धि आरम्भ हो जाती

है और कालान्तर में यही संवर-निर्जरारूप स्वभाव के साधन वृद्धि को प्राप्त होते हुए मोक्षस्वरूप सिद्धत्व में परिणमित हो जाते हैं। पृष्ठ-५६

(४९८)

गहराई से विचार करें तो दु:ख का ही दूसरा नाम संसार है। अनादिकाल से चतुर्गति में भटकते हुए इस जीव ने अनन्त दु:ख भोगे हैं और निरन्तर भोग रहा है। बड़े ही भाग्य से सहज ही विचारशक्ति और विचार का अवसर प्राप्त हो गया है; अत: अवसर चूकना योग्य नहीं। संसार में सुख की कल्पना में उलझे रहकर यदि यह अवसर चूक गया तो फिर चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटकने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहेगा; अत: संसार की असारता जानकर सारभूत निज शुद्धात्मा की आराधना में ही सार है।

पृष्ठ-५७

एकत्वभावना : एक अनुशीलन

(४९९)

अनित्य, अशरण व संसारभावना के चिन्तन में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता व निरर्थकता तथा निजस्वभाव की नित्यता, शरणभूतता एवं सार्थकता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी ज्ञानी-अज्ञानी सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार सुख-दु:ख मिलजुलकर भोग लेने का विकल्प थोड़ा-बहुत बना ही रहता है, जड़मूल से साफ नहीं होता।

उक्त विकल्प को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए ही एकत्व और अन्यत्वभावना का चिन्तन किया जाता है। पृष्ठ-६०

(५००)

भले ही क्षणभंगुर सही, अशरण सही, निरर्थक सही, पर संयोग है तो सही; किन्तु साथी तो जगत में कोई है ही नहीं। परद्रव्यों का संयोग है, पर साथ नहीं। परद्रव्य संयोगी हैं, पर साथी नहीं।

संयोग और साथ में अन्तर है। संयोग तो मात्र संयोग है, पर साथ में सहयोग अपेक्षित है। संयोग में सहयोग शामिल करने पर साथ होता है। गणित की भाषा में हम इसे इसप्रकार व्यक्त कर सकते हैं — संयोग+सहयोग = साथ।

दो व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित होना संयोग है, उनमें परस्पर सहयोग होना साथ है। पृष्ठ-६२

(५०१)

साथ से इन्कार का नाम ही अकेलेपन (एकत्व) की स्वीकृति है। एकत्वभावना का मूल प्रतिपाद्य यही अकेलापन (एकत्व) है।

पृष्ठ-६३

(५०२)

एकत्व (अकेलापन) आत्मा की मजबूरी नहीं, सहजस्वरूप है। एकत्व आत्मा का ऐसा स्वभाव है, जो अनादिकाल से प्रतिसमय उसके साथ है और अनन्तकाल तक रहेगा; क्योंकि वह आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है। इसीप्रकार अन्यत्व भी आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव ही है। निज में एकत्व और पर से अन्यत्व वस्तु की स्वभावगत विशेषताएँ हैं, इनके बिना वस्तु का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। पृष्ठ-६४

(५०३)

सम्पूर्ण समयसार एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादन को ही समर्पित है।

पृष्ठ-६४

(५०४)

एकत्व वस्तु की अखण्डता का सूचक है, कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का सूचक है। साथ या साथी की कल्पना वस्तु की अखण्डता को चुनौती है, स्वतंत्र सत्ता को चुनौती है।

एकत्व की प्रतीति में स्वाधीनता का स्वाभिमान जागृत होता है, स्वावलम्बन की भावना प्रबल होती है और वृत्ति का सहज स्वभावसन्मुख ढुलान होता है। एकत्वभावना के चिन्तन का वास्तविक सुफल यही है। ध्यान रहे एकत्व वस्तु का त्रैकालिक स्वभाव है और तत्सम्बन्धी चिन्तन, मनन, घोलन एवं तद्रूप परिणमन एकत्वभावना है। पृष्ठ-६५

(५०५)

"यदि एकाकी चल पड़े नहीं, तो यहीं खड़े रह जाओगे।" पृष्ठ-६५

(५०६)

'अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख-दु:ख भी अकेले ही भोगना होगा' — इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिन्तन-प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए। जरा गहराई से विचार करें तो सब-कुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा।

आपको यह शिकायत हो कि सुख-दु:ख, जीवन-मरण सब-कुछ आपको अकेले ही भोगने पड़ते हैं; कोई सगा-सम्बन्धी भी साथ नहीं देता। क्या आपकी यह शिकायत उचित है?

जरा इस पर गैर कीजिये कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता है, तब 'साथ नहीं देता' — यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा। पृष्ठ-६७

(५०७)

एकत्व ही सनातन सत्य है, साथ की कल्पना मात्र कल्पना ही है। एकत्व ही शिव है, कल्याणकारी है; साथ की कल्पना अशिव है, दु:ख का मूल है। एकत्व ही सुन्दर है, साथ की कल्पना मात्र कल्पनारम्य ही है।

एकत्व ही सत्य है, शिव है, सुन्दर है। साथ है ही नहीं; अत: उसके कुछ होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। साथ न सत्य है, न असत्य है; न शिव है, न अशिव है; न सुन्दर है, न असुन्दर है; क्योंकि जब वह है ही नहीं, तब फिर 'क्या है, कैसा है?' आदि प्रश्न ही असम्भव हैं। पृष्ठ ६८-६९

(५०८)

साथ नहीं; संग मिलेगा, संयोग मिलेगा। निगोद में भी अनन्त जीवों का संग ही है, संयोग ही है; साथ नहीं; क्योंकि उनमें परस्पर सहयोग नहीं है, मात्र एकक्षेत्रावगाहत्व है। पृष्ठ-६९

(५०९)

भाई ! आत्मा का अकेलापन अभिशाप नहीं, वरदान है। जो अकेलापन आज तुम्हें सुहाता नहीं, वस्तुतः वही आनन्द का धाम हैं। जिस साथ के लिए तुम इतने आकुल-व्याकुल हो रहे हो; वह मात्र मृगतृष्णा है, कभी प्राप्त न होनेवाली कल्पना है।

साथ खोजने के प्रयास न तो आज तक किसी के सफल हुए हैं और न कभी होंगे। इस दिशा में किया गया सारा श्रम व्यर्थ ही जानेवाला है। अच्छी फसल की आशा से पत्थर पर बीज बोने जैसे इस व्यर्थ के श्रम से क्या लाभ है?

पृष्ठ-६९

(५१०)

आचार्य भगवन्तों का मात्र यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सन्देश है कि सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करो, आराधना करो; उसे ही जानो, पहिचानो; उसी में जम जावो, उसमें ही रम जावो, उसमें ही समा जावो, इससे ही अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति होगी- परमसुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पर को छोड़ने के लिए, पर से छूटने के लिए इससे भिन्न कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर तो छूटे हुए ही है। वे तेरे कभी हुए ही नहीं हैं; तूने ही उन्हें अज्ञानवश अपना मान रखा था, अपना जान रखा था, और उनसे राग कर व्यर्थ ही दुःखी हो रहा था। तू अपने में मगन हुआ तो वे छूटे हुए ही हैं। पृष्ठ-७०-७१

(५११)

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है; इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वयं अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्त्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरंजन हो जाओगे। पृष्ठ-७१

अन्यत्वभावना : एक अनुशीलन

(५१२)

एकत्वभावना में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी संयोग सुख-दु:ख के साथी नहीं होते, सम्पूर्ण सुख-दु:ख जीव अकेले ही भोगता है। अब अन्यत्वभावना में यह समझाते हैं कि परमार्थ से विचार करें तो आत्मा शरीरादि सर्व संयोगों से अत्यन्त भिन्न ही है। पृष्ठ-७४

(५१३)

अज्ञानी को अज्ञानवश एवं ज्ञानी को भी कदाचित् रागवश थोड़े-बहुत इसप्रकार के विकल्प बने ही रहते हैं कि अनित्य सही, अशरण सही, असार सही, साथी न सही; पर शरीरादि संयोगी पदार्थ हैं तो अपने ही; निश्चय से न सही, पर व्यवहार से तो अपने हैं ही; जिनवाणी में भी तो व्यवहार से उन्हें अपना कहा है।

व्यवहार के बल से उत्पन्न इसीप्रकार की विकल्पतरंगों के शमन के लिए संयोगी परद्रव्यों से निज परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक अत्यन्त भिन्नता का अनेक प्रकार से किया गया चिन्तन ही अन्यत्वभावना है। इसी चिन्तन के बल से व्यवहार पक्ष शिथिल होता है और पारमार्थिक निश्चय पक्ष प्रबल होता है। प्रतिसमय वृद्धिंगत व्यवहार की निर्बलता और परमार्थ की प्रबलता ही निर्जरा है, जो मुक्ति का साक्षात् कारण है। पृष्ठ-७६

(५१४)

जीव और देह की पारमार्थिक भिन्नता समझने के लिए पहले उनकी व्यावहारिक एकता की वास्तविक स्थिति जानना आवश्यक है, अन्यथा व्यवहारिक एकता की तात्कालिक उपयोगिता के साथ-साथ स्वभाविक भिन्नता का भी भली-भाँति परिचय प्राप्त नहीं होगा, पारमार्थिक प्रयोजन की भी सिद्धि नहीं होगी; अत: देह और आत्मा की पारमार्थिक भिन्नता के साथ-साथ व्यावहारिक एकता का ज्ञान भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; पर ध्यान रहे इनकी पारमार्थिक भिन्नता तो भिन्नता जानने के लिए है ही, व्यावहारिक एकता का स्वरूप जानना भी पारमार्थिक भिन्नता जानने के लिए ही है।

पृष्ठ-७८

(५१५)

अन्यत्वभावना में मूलभूत प्रयोजन पर से अन्यत्व है, एकत्व नहीं। व्यावहारिक एकता को तो प्रयोजनपुरतः मात्र जान लेना है, वहाँ जमना नहीं है; रमना नहीं है; पर पारमार्थिक भिन्नता को तो जानना भी है, मानना भी है और पर से भिन्न निज में जमना भी है, रमना भी है, निज में ही समा जाना है।

पर से भिन्न निज में समा जाना ही वास्तविक अन्यत्वभावना है।

पृष्ठ-७८

(५१६)

जीव और शरीर की एकता वास्तविक एकता नहीं; मात्र मिलावट है, मेला है। पृष्ठ-७८

(५१७)

जीव और शरीर सर्वप्रकार से भिन्न-भिन्न होकर भी एकत्रित हो गये हैं। उनके एकत्रित हो जाने से वे एक नहीं हो जाते, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

जिसप्रकार एकत्रित व्यक्तियों के समूह को मेला कहा जाता है, पर वस्तुतः उन समूहगत व्यक्तियों में प्रत्येक का व्यक्तित्व रंचमात्र भी विलीन नहीं होता, खण्डित नहीं होता; स्वतंत्ररूप से अखण्डित बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलाप स्वभाववाले व्यक्ति वस्तुतः कभी मिल ही नहीं सकते हैं। मेला तो मेला है, उसमें एकता संभव नहीं है; मेले में एकता खोजना मेले का मेलापन खो देना है।

उसीप्रकार एकत्रित देह और आत्मा को व्यवहार जीव कहा जाता है, पर वस्तुतः देह और आत्मा कभी भी एक नहीं होते, परस्पर विलीन नहीं होते; उनका स्वरूप खण्डित नहीं होता, स्वतंत्ररूप से अखण्डित ही बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलापवाले जड़ और चेतन पदार्थ कभी मिल ही नहीं सकते हैं। जीव और शरीर का भी मेला तो मेला ही है, उनमें एकता खोजना दोनों के स्वरूप को खण्डित कर देना है। पृष्ठ-७९

(५१८)

वस्तु ही उसे कहते हैं, जो कभी मिटे नहीं, सदा सत्‌रूप ही रहे। अत: कोई वस्तु किसी में कभी मिलती नहीं, मात्र मिली कही जाती है। यही कारण है कि जीव में देह कभी मिलती नहीं, एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग देखकर मात्र मिले कहे जाते हैं, हैं तो वे परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न ही।

इस सत्य के गहरे मंथन का नाम ही अन्यत्वभावना है। पृष्ठ-८०

(५१९)

पर से भिन्नता का ज्ञान ही भेदविज्ञान है और पर से भिन्न निज चेतन भगवान का जानना, मानना, अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्मसाधना है, आत्माराधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जिन-अध्यात्म का सार इसी में समाहित है। अन्यत्वभावना के चिन्तन की चरम परिणति भी यही है।

पृष्ठ-८२

अशुचिभावना : एक अनुशीलन

(५२०)

चाहे नरदेह की चर्चा हो, चाहे नारीदेह की; इसीप्रकार चाहे स्वदेह की चर्चा हो या परदेह की; अशुचिभावना में सभी देहों की चर्चा उनकी स्वभावगत अशुचिता के दिग्दर्शन के लिए ही होती है; क्योंकि अशुचिभावना के चिन्तन का प्रयोजन स्व-पर देह एवं तत्सम्बन्धी भोगों से विरक्ति उत्पन्न करना होता है।

पृष्ठ-९१

(५२१)

स्वभाव से ही अशुचि देह के ममत्व एवं अनुराग में ही यह दुर्लभ नरभव गमा देना उचित नहीं है, बुद्धिमानी का काम नहीं है। इस देह से अत्यन्त भिन्न स्वभाव से ही परमपवित्र निज भगवान आत्मा की साधना-आराधना करना ही इस मानवजीवन में एकमात्र करने योग्य कार्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना से लेकर अशुचिभावना तक का सम्पूर्ण चिन्तन संयोगी पदार्थों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा है। संयोगी पदार्थों में भी आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने से शरीर ही केन्द्रबिन्दु

बना रहा है। अनित्यभावना में मृत्यु की चर्चा करके शरीर के संयोग की ही क्षणभंगुरता का चिन्तन किया गया है। अशरणभावना में 'मरने से कोई बचा नहीं सकता' की बात करके शरीर के संयोग को अशरण कहा जाता है। इस संसार में अनेक देहों को धारण किया, पर किसी देह के संयोग में सुख प्राप्त नहीं हुआ।

शरीर के संयोग-वियोग का नाम ही तो जन्म-मरण है; जन्म-मरण के अनन्त दुःख भी जीव अकेला ही भोगता है, कोई भी संयोग साथ नहीं देता; देहादि सभी संयोगी पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न ही हैं — यही चिन्तन एकत्व और अन्यत्व भावनाओं में होता है। स्व और पर शरीर की अशुचिता का विचार ही अशुचिभावना में किया जाता है।

इसप्रकार यह निश्चित है कि उक्त सम्पूर्ण चिन्तन देह को केन्द्रबिन्दु बनाकर ही चलता है। उक्त सम्पूर्ण चिन्तनप्रक्रिया का एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को देहादि संयोगी पदार्थों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। उक्त प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अनित्यादि भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया का स्वरूप निर्धारण हुआ है। पृष्ठ-९२-९३

(५२२)

मैं तो इन शरीरादि संयोगों और निमित्त से होनेवाले संयोगी भावों तथा निज निर्मल पर्यायों एवं गुणभेद से भी भिन्न स्वयं भगवान आत्मा हूँ, अनन्त गुणों का धाम हूँ, अनन्तानन्त शक्तियों का संग्रहालय हूँ, ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का कन्द परमप्रभु परमेश्वर हूँ। पृष्ठ-९४

(५२३)

आदिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ छोड़कर भरत चक्रवर्ती का साठ हजार वर्ष तक लड़ने के लिए प्रेरित करनेवाली, बाध्य, करनेवाली, विकल्पतरंगें अस्थिरताजन्य अनुराग का ही परिणाम थीं।

उक्त अस्थिरताजन्य विकल्पतरंगों के शमन के लिए शरीरादि संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, पृथकता, अशुचिता आदि की चिन्तनधारा ज्ञानियों को भी चलती रहती है और चलती रहनी चाहिए। पृष्ठ-९५

(५२४)

अनवरतरूप से चलनेवाली इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से चारित्रमोह सम्बन्धी अनुराग भी निरन्तर क्षीण से क्षीणतर एवं क्षीणतर से क्षीणतम होता जाता है और एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि यह आत्मा अनन्तकाल तक के लिए अपने में ही समा जाता है; फिर उसकी समाधि कभी भंग नहीं होती, अपने में ही मग्न वह आत्मा अनन्तकाल तक अनन्तसुख भोगता है।

इस स्थिति पर पहुँच जाने पर बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया से भी सदा के लिए पार हो जाता है। बारह-भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन उक्त स्थिति तक पहुँचना ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन बारह भावनाओं के चिन्तन की उपयोगिता मिथ्यात्वी, मुमुक्षु, आत्मार्थी से लेकर अपनी-अपनी भूमिकानुसार तबतक निरन्तर आवश्यक है, जबतक कि यह आत्मा पूर्ण वीतरागी होकर अनन्तकाल तक के लिए समाधि में समाहित नहीं हो जाता है। पृष्ठ-९६

आस्रवभावना : एक अनुशीलन

(५२५)

शरीरादि संयोगी पदार्थों में एकत्व-ममत्व एवं इन्हीं शरीरादि के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषरूप विकल्पतरंगें भावास्रव हैं, तथा इन्हीं भावास्रवों के निमित्त से कार्माण-वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है।

भावास्रव व द्रव्यास्रव — इन दो भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग — इन पाँच भेदों में भी आस्रव विभाजित किया जाता है।

पृष्ठ-९९

(५२६)

शरीरादि संयोगों के समान ये आस्रवभाव भी अनित्य हैं, अशरण हैं, अशुचि हैं, आत्मस्वभाव से अन्य हैं, चतुर्गति में संसरण (परिभ्रमण) के हेतु हैं, दुःखरूप हैं, दुःख के हेतु हैं, जड़ हैं। इनसे भिन्न ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड भगवान आत्मा नित्य है, परमशरणभूत है, संसारपरिभ्रमण से

रहित, परमपवित्र, आनन्द का कन्द है और अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति का हेतु भी है। — इसप्रकार का चिन्तन ही आस्रवभावना है। पृष्ठ-९९

(५२७)

ध्यान रहे आस्रवभावना आस्रवतत्त्व नहीं, संवरतत्त्व है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं का वर्णन संवरतत्त्व के प्रकरण में आता है। वहाँ अनुप्रेक्षाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है। पृष्ठ-१०२

(५२८)

उक्त छह भावनाओं में विशेष कर पर की पृथकता का ही वैराग्यपरक चिन्तन होता है; किन्तु आस्रवभावना में विभाव की विपरीतता का चिन्तन मुख्य होता है।

आस्रवभावों की विपरीतता भी तो आत्मस्वभाव से ही सिद्ध करना है; अतः जिन बिन्दुओं से आस्रव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, साथ में उन्हीं बिन्दुओं से आत्मस्वभाव का स्पष्टीकरण भी सहज आवश्यक हो जाता है; अतः कहा जाता है कि आत्मा नित्य है, आस्रव अनित्य हैं; आत्मा ध्रुव है, आस्रव अध्रुव हैं; आत्मा परमशरण है, आस्रव अशरण हैं; आत्मा चेतन है, आस्रव जड़ हैं; आत्मा सुखस्वरूप है, आस्रव दुःखस्वरूप हैं; आत्मा सुख का कारण है, आस्रव दुःख के कारण हैं।

इसप्रकार यद्यपि ये आस्रवभाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा से निबद्ध हैं; तथापि आत्मस्वभाव से अन्य हैं, विपरीतस्वभाववाले हैं; अतः हेय हैं; श्रद्धेय नहीं, ध्येय नहीं, उपादेय भी नहीं, मात्र ज्ञान के ज्ञेय हैं; और आस्रवभावों से अन्य यह भगवान आत्मा परमज्ञेय है, परमश्रद्धेय है, परमध्येय है, परम-उपादेय है।

इसप्रकार का सतत् चिंतन ही आस्रवभावना है। पृष्ठ-१०२-१०३

(५२९)

आस्रवभावों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण आस्रवों को हेय जानें, सम्पूर्णतः हेय मानें; चाहे वे पापास्रव हों, चाहे पुण्यास्रव; चाहे अशुभास्रव हों, चाहे शुभास्रव। शुभ से शुभ आस्रव के

प्रति मोह (उपादेयबुद्धि) मिथ्यात्व नामक अशुभतम आस्रव है। तीर्थंकर नामकर्म का बंध करनेवाले शुभतम भावों में भी यदि उपादेयबुद्धि रहती है तो वह अनन्तसंसार का कारणरूप मिथ्यात्व नामक अशुभतम आस्रवभाव है।

पृष्ठ-१०४

(५३०)

आस्रवभावना में आस्रवों के भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने की अपेक्षा आस्रवों के हेयत्व का चिन्तन अधिक आवश्यक है, अधिक उपयोगी है और आस्रवों से भिन्न भगवान आत्मा के उपादेयत्व का चिंतन उससे भी अधिक आवश्यक है, उससे भी अधिक उपयोगी है। पृष्ठ-१०५

(५३१)

आत्मस्वभाव के आश्रयपूर्वक शुभाशुभभावरूप आस्रवभावों से मुक्त होना ही आस्रवानुप्रेक्षा के चिन्तन का वास्तविक फल है। पृष्ठ-१०६

(५३२)

यद्यपि आस्रवभावना में पुण्य और पाप — दोनों प्रकार के आस्रवों की हेयता का चिन्तन किया जाता है; तथापि गहराई में जाकर विचार करें तो पापास्रवों की अपेक्षा पुण्यास्रवों की हेयता का अधिक विचार करना ही वास्तविक आस्रवभावना है; क्योंकि पापभावों को तो सभी हेय जानते हैं, मानते हैं, कहते भी हैं; ज्ञानीजन तो वे हैं, जिन्हें पुण्यभाव भी हेय प्रतिभासित हों। मुख्यरूप से जिन मुनिराजों के ये भावनाएँ होती हैं, उनके तो प्राय: पापभाव होते ही नहीं हैं। जिनके पापभाव हैं ही नहीं, वे उनके हेयत्व के चिन्तन में बहुमूल्य समय क्यों बर्बाद करेंगे? पृष्ठ-१०८-१०९

(५३३)

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आरंभ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्यपरक हैं और अन्त की छह भावनाओं की चिन्तनधारा मुख्यरूप से तत्त्वपरक होती है। आस्रवभावना में आस्रवतत्त्व के साथ-साथ बंधतत्त्व और पुण्य-पाप तत्त्वों की चर्चा भी अपेक्षित है, क्योंकि बंधभावना या पुण्य-

पापभावना नाम की कोई स्वतंत्र भावना नहीं है; अत: आस्रवभावना में पुण्य-पाप और बंध संबंधी चिन्तन होना स्वाभाविक ही है।

दूसरी बात यह भी तो है कि पुण्य-पाप और बंध को छोड़कर अकेले आस्रव का चिन्तन संभव ही नहीं है; क्योंकि भावास्रव और भावबंध में विशेष अन्तर ही क्या है? जिन मोह-राग-द्वेष भावों को भावास्रव कहते हैं; उन्हीं को भावबंध भी कहा जाता है। यह मोह-राग-द्वेष भाव ही पुण्य-पाप बंध के कारण हैं। पुण्य-पाप और आस्रव-बंध परस्पर इसप्रकार अनुस्यूत हैं कि उनका संपूर्णत: पृथक्-पृथक् चिन्तन करना सहजसाध्य नहीं है।

पृष्ठ-१०९-११०

(५३४)

आरंभ की छह भावनाओं में अजीव से जीव का भेदज्ञान कराया गया है और इस आस्रवभावना में आस्रव, बंध, पुण्य और पाप से भेदज्ञान कराया जा रहा है। पृष्ठ-११०

(५३५)

अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम आत्मा और आत्मा की ही पर्याय में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप, पुण्य-पापरूप आस्रवभावों की परस्पर भिन्नता भली-भाँति जानें, भली-भाँति पहिचानें तथा आत्मा के उपादेयत्व एवं आस्रवों के हेयत्व का निरन्तर चिन्तन करें, विचार करें; क्योंकि निरन्तर किया हुआ यही चिन्तन, यही विचार आस्रवभावना है।

ध्यान रहे उक्त चिन्तन, विचार तो आस्रवभावना का व्यावहारिकरूप है अर्थात् यह तो व्यवहार-आस्रवभावना है। निश्चय-आस्रवभावना तो आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान व ध्यानरूप परिणमन है।

पृष्ठ-१११-११२

संवरभावना : एक अनुशीलन

(५३६)

संवरभावना और संवरतत्त्व में कारण-कार्य का सम्बन्ध है; क्योंकि उक्त कथन में बारह भावनाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है और संवरभावना भी बारहभावनाओं में एक भावना है। पृष्ठ-११५

(५३७)

इसप्रकार स्पष्ट है कि आस्रव और संवर परस्पर विरोधी भाव हैं; क्योंकि आस्रव दुःखमय और संवर सुखमय, आस्रव दुःखदायक अर्थात् दुःख का कारण है और संवर सुखदायक अर्थात् सुख का कारण है। इसकारण संवर आस्रव का प्रतिद्वन्द्वी है, निषेधक है, उसका अभाव करके उत्पन्न होनेवाला पराक्रमी सज्जनोत्तम योद्धा है, अनन्त आनन्ददायक है, वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है।

पृष्ठ-११७

(५३८)

सुखस्वभावी आत्मा के आश्रय से मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर जो अनाकुल आनन्द उत्पन्न होता है, वही संवर है; अतः संवर सुखरूप है तथा मोह-राग-द्वेष के अभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन ही संवर है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन मोक्षमार्ग होने से सुख का कारण भी है।

पृष्ठ-११८

(५३९)

यहाँ संवरभावना में मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों के विरुद्ध उनके अभावपूर्वक उत्पन्न होनेवाले वीतरागभावरूप संवर की सुखरूपता और सुखकारणता की बात है।

पृष्ठ-११८

(५४०)

ध्यान रहे संवरभावना संवर के अनेक कारणों में से मात्र एक कारण है।

पृष्ठ-११८

(५४१)

संवर के कारणों में तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावनाएँ, बाईस परीषहजय एवं पाँच प्रकार का चारित्र सभी आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी संवर के कारण या संवररूप ही हैं।

पृष्ठ-११९

(५४२)

आत्मानुभव या आत्मानुभव की भावना ही वास्तविक संवरभावना है। आत्मानुभव भेदविज्ञानपूर्वक होता है; अतः आत्मानुभव के साथ भेदविज्ञान की

भावना भी संवरभावना में भरपूर की जाती है और विशेषरूप से की जानी चाहिए। पृष्ठ-१२०

(५४३)

धर्म का आरंभ संवर से ही होता है; क्योंकि मिथ्यात्व नामक महापाप का निरोधक, मिथ्याज्ञानांधकार का नाशक एवं अनन्तानुबन्धी कषाय का विनाशक संवर ही है। पृष्ठ-१२१

(५४४)

एक ओर पर और निजपर्याय से भी रहित ज्ञानानन्दस्वभावी निजशुद्धात्मतत्त्व 'स्व' है और दूसरी ओर सम्पूर्ण परपदार्थ, जिनमें परजीव भी सम्मिलित हैं तथा पर के लक्ष्य से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप शुभाशुभभाव एवं निजात्मा के आश्रय से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव हैं; ये सभी 'पर' हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण जगत को स्व और पर में विभाजित करके पर से विमुख होकर स्वसन्मुख होना ही भेदविज्ञान है, आत्मानुभूति है, संवर है, संवरभावना है, संवरभावना का फल है।

श्रद्धागुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' में एकत्व स्थापित करती है, अहं स्थापित करती है, ममत्व स्थापित करती है, अहंकार करती है, ममकार करती है, एकाकार होती हैं; उसी निर्मलपर्याय का नाम सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार ज्ञानगुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' को निज जानती है, वह सम्यग्ज्ञान है। उसी का ध्यान करनेवाली, उसी में लीन हो जानेवाली, जम जानेवाली, रम जानेवाली, समा जानेवाली चारित्रगुण की निर्मलपर्याय सम्यक्चारित्र है।

यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का मार्ग है, शुभाशुभभावरूप आस्रवभावों के निरोधरूप होने से संवर है, संवरभावना है। अतीन्द्रिय आनन्दमय होने से यही रत्नत्रय संवरभावना का सुमधुर फल भी है।

पृष्ठ-१२२-१२३

(५४५)

संवरभावना संबंधी उक्त समग्र चिन्तन का सार पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा के सन्मुख होना है, स्वयं को सही रूप में जानना, पहिचानना है एवं स्वयं में ही समा जाना है। पृष्ठ-१२५

निर्जराभावना : एक अनुशीलन

(५४६)

मुक्ति के मार्ग में आनेवाली निर्जराभावना या निर्जरातत्त्व की चर्चा का सम्बन्ध स्वसमय में उदय में आकर स्वयं खिर जानेवाले कर्मों से होनेवाली सविपाकनिर्जरा से कदापि नहीं है; अपितु संवरपूर्वक शुद्धोपयोग से होनेवाली अविपाकनिर्जरा से ही है। पृष्ठ-१२९

(५४७)

संवरभावना में संवर के कारणों के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं होता, अपितु उनकी उपादेयता का विचार, भेदविज्ञान और आत्मानुभूति की प्रबल भावना ही अभीष्ट होती है; पृष्ठ-१३३

(५४८)

निर्जराभावना में भी निर्जरा के कारण बारह तपों के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं होता, शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान की प्रबल भावना ही अभीष्ट होती है। पृष्ठ-१३३

(५४९)

ध्यान रहे बारह भावनाओं में मोक्षभावना नाम की कोई भावना नहीं है; अतः इस निर्जराभावना में ही शुद्धि की पूर्णतारूप मोक्ष की भावना भी होती ही है। पृष्ठ-१३३

(५५०)

जब द्रव्यस्वभाव की ओर से बात करते हैं तो उसे आत्मा की आराधना, साधना, उपासना कहते हैं और जब पर्यायस्वभाव की ओर से बात करते हैं तो उसी को रत्नत्रय की साधना, आराधना, उपासना या मोक्षमार्ग की साधना, आराधना या उपासना कहा जाता है। ध्येय, श्रद्धेय परमज्ञेयरूप उपास्य — आराध्य तो त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही है और उसके ध्यान, श्रद्धान एवं ज्ञानरूप उपासना-आराधना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है; अतः चाहे आत्मा की उपासना कहो, चाहे मोक्षमार्ग की उपासना कहो-एक ही बात है।

संवर मोक्षमार्ग का आरम्भ है और निर्जरा मोक्षमार्ग; अतः संवरपूर्वक निर्जरारूप परिणमन ही मोक्षमार्ग में आरूढ़ होना है। इसी दिशा में निरन्तर बढ़ते रहने की भावना ही निर्जराभावना है। पृष्ठ-१३६

लोकभावना: एक अनुशीलन

(५५१)

शुद्धि की उत्पत्ति व स्थितिरूप संवर तथा वृद्धिरूप निर्जरा ही अनन्तसुखरूप मोक्ष प्रगट होने के साक्षात् कारण हैं।

इसप्रकार ज्ञेयरूप संयोग, हेयरूप आस्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के सम्यक् चिन्तन के उपरान्त अब लोकभावना में षट्द्रव्यमयी लोक के स्वरूप पर विचार करते हैं। पृष्ठ-१३९

(५५२)

लोकभावना में छहद्रव्यों के समुदायरूप लोक की बात भी चिन्तन का विषय बनती है और लोक की भौगोलिक स्थिति भी। पृष्ठ-१४१

(५५३)

जगत को जानकर उससे दृष्टि हटाकर निज भगवान आत्मा में स्थिर हो जाना ही लोकभावना के चिन्तन का सुपरिणाम है। यही कारण है कि लोकभावना के चिन्तन का मूल केन्द्रबिन्दु षट्द्रव्यमयी लोक से भिन्न निज भगवान आत्मा की उपासना करने की प्रेरणा देना ही रहा है। पृष्ठ-१४३

(५५४)

लोकभावना की विषय-वस्तु के विस्तार में जावें तो उसमें लगभग सम्पूर्ण लोकालोक ही समाहित हो जाता है; जो कुछ भी जिनागम में कहा गया है, वह सब-कुछ आ जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनागम में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय-वस्तु के सम्बन्ध में आत्मानुभवी संत और ज्ञानी श्रावक जो कुछ भी आत्मोन्मुखी चिन्तन करते हैं, वह सब लोकानुप्रेक्षा का ही चिन्तन है; पर यह आवश्यक है कि उस चिन्तन की दिशा भेदविज्ञानपरक और वैराग्यप्रेरक होना चाहिए।

ज्ञेयरूप संयोगों, हेयरूप पुण्य-पापास्रवों एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा की चर्चा के उपरान्त लोकभावना में – समस्त लोक जिसके ज्ञानदर्पण में प्रतिबिंबित होता है, उस आत्मा का सम्पूर्ण लोक में क्या स्थान है और वह कौन है? यह चिन्तन किया जाता है। निजतत्त्व की तीव्रतम रुचि जागृत करने के लिए निजतत्त्व की मुख्यता से किया गया लोक का चिन्तन ही लोकभावना है।

पृष्ठ-१४५-१४६

(५५५)

लोकभावना में लोक के स्वरूप, आकार-प्रकार एवं जीवादि पदार्थों का जो विस्तृत विवेचन किया जाता है; वह सब तो व्यवहार है, निश्चयलोक तो चैतन्यलोक ही है। उस चैतन्यलोक में रमण करना एवं रमण करने की उग्रतम भावना ही निश्चय-लोकभावना है; क्योंकि लोकभावना के चिन्तन का असली उद्देश्य तो आत्माराधना की सफल प्रेरणा ही है।

पृष्ठ-१४७

बोधिदुर्लभभावना : एक अनुशीलन

(५५६)

षट्द्रव्यमयी इस लोक में न तो ज्ञेयरूप संयोग ही दुर्लभ हैं और न संयोगीभावरूप आस्रवभाव; क्योंकि हम सभी को ये तो अनन्तों बार प्राप्त हो चुके हैं और यदि अब भी अपने को नहीं जाना, नहीं पहिचाना तो भविष्य में भी मिलते रहेंगे। दुर्लभ तो एकमात्र अपने को जानना है, पहिचानना है, अपने में ही जमना है, रमना है; क्योंकि अनादिकाल से अबतक और सब-कुछ मिला, पर सहीरूप में हम अपने को पहिचान नहीं सके हैं, जान नहीं सके हैं। यदि हमने अपने को सहीरूप में जान लिया होता, पहिचान लिया होता तो अबतक इस लोक में भटकते ही न रहते, अपितु लोकाग्र में विद्यमान सिद्धशिला में विराजमान होते; मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम का अभाव कर अनंत सुखी हो गये होते; अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य के धनी हो गये होते; अतीन्द्रियानन्दस्वरूप सिद्धशिला को प्राप्त हो गये होते।

हमारी यह वर्तमान दुर्दशा, दुःखरूप दशा एकमात्र अपने को नहीं पहिचान पाने के कारण ही हो रही है, नहीं जान पाने के कारण हो रही है; अतः इस

दुर्लभ अवसर का उपयोग, नरभव का एकमात्र सदुपयोग, अपने को जानने-पहिचानने के महादुर्लभ कार्य कर लेने में ही है।

अपने को जानना, पहिचानना एवं अपने में लीन हो जाना ही बोधि है — दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि ही इस जगत में दुर्लभ है, महादुर्लभ है और इस बोधि की दुर्लभता का विचार, चिन्तन, बार-बार चिन्तन ही बोधिदुर्लभभावना है। पृष्ठ-१५०-१५१

(५५७)

बोधि की दुर्लभता का गहराई से अनुभव हो — इसके लिए निगोद से लेकर उत्तरोत्तर दुर्लभता का बड़े ही मार्मिक ढंग से चिन्तन किया जाता रहा है। पृष्ठ-१५३

(५५८)

त्रसपर्याय की दुर्लभता से लेकर रत्नत्रयरूप बोधि की दुर्लभता तक की अनेक दुर्लभताओं में मनुष्यपर्याय की दुर्लभता एक बीच का बिन्दु है। वह एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ तक का अतिकठिन रास्ता जैसे भी हो, पर हम सबने पार कर लिया है। उससे भी आगे आये देश, उत्तम कुल, वीतरागी धर्म और उसका श्रवण भी हमें सहज उपलब्ध हो गया है।

इस महान उपलब्धि की सार्थकता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि की उपलब्धि में ही है। यदि इस महादुर्लभ मानव जीवन को पाकर भी हमने बोधि की प्राप्ति नहीं की तो इसका पाना, न पाना बराबर ही समझना चाहिए। पृष्ठ-१५४

(५५९)

यद्यपि यह बात सत्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव-पर्याय अनादि से नहीं है; तथापि अनादि-अनन्त सदा उपलब्ध ज्ञानस्वभाव के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और उसी में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है; अतः सदा उपलब्ध त्रिकाली ध्रुव आत्मा के दर्शन भी स्वाधीन होने से सुलभ ही है। जबकि लौकिक संयोग पराधीन होने से सहज सुलभ नहीं, दुर्लभ हैं। पृष्ठ-१५६

(५६०)

बोधिलाभ को अत्यन्त कठिन मानकर अनुत्साहित होकर पुरुषार्थहीन होने लगता है, तो उसके उत्साह को जाग्रत रखने के लिए उसकी सुलभता का ज्ञान भी कराया जाता है। अत: बोधि की दुर्लभता और सुलभता — दोनों ही एक ही उद्देश्य की पूरक हैं और काल्पनिक भी नहीं, अपितु सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। बोधिलाभ स्वाधीन होने से सुलभ भी है और अनादिकालीन अनुपलब्धि एवं अनभ्यास के कारण दुर्लभ भी। पृष्ठ-१५७

(५६१)

बोधि की दुर्लभता और सुलभता का सम्यक्स्वरूप यह है कि जबतक सैनी पंचेन्द्रिय दशा की उपलब्धि न हो, तबतक तो बोधिलाभ महादुर्लभ है ही, किन्तु मनुष्यपर्याय में भी अनभ्यास के कारण दुर्लभ ही है; तथापि जो ठान ले, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं, सब सुलभ है; पुरुषार्थी के लिए क्या सुलभ और क्या दुर्लभ? सब सुलभ ही है; क्योंकि प्रत्येक भावना के चिन्तन का स्वरूप पुरुषार्थप्रेरक ही होता है। बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन का वास्तविक स्वरूप यही है कि जबतक हम जाग्रत नहीं हुए, तबतक महादुर्लभ और आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ के लिए कमर कसकर सन्नद्ध लोगों के लिए महासुलभ है। पृष्ठ-१५७

(५६२)

बोधिदुर्लभभावना में संयोग की सुलभता व दुर्लभता एवं बोधिलाभ की सुलभता व दुर्लभता — चारों ही चिन्तन किया जाता है; क्योंकि बोधि की दुर्लभता के चिन्तन का यही वास्तविक स्वरूप है। इसमें उक्त चारों बिन्दुओं का गंभीर चिन्तन समाहित हो जाता है। पृष्ठ-१५८-१५९

(५६३)

बोधिदुर्लभभावना में चाहे संयोगों की सुलभता बताई जा रही हो, चाहे दुर्लभता; चाहे बोधिलाभ की सुलभता बताई जा रही हो, चाहे दुर्लभता; पर उसकी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा रत्नत्रयधर्म की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता को बल प्रदान करने की ओर ही रहती है। पृष्ठ-१५९

धर्मभावना : एक अनुशीलन

(५६४)

आरंभिक नौ भावनाओं में ज्ञेयरूप संयोग, हेयरूप आस्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के सम्यक् चिन्तन के उपरान्त लोक और बोधि-दुर्लभभावना में यह विचार किया गया है कि इस षट्द्रव्यमयी पुरुषाकार लोक में रत्नत्रयरूप बोधि की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है। चूंकि रत्नत्रयरूप बोधि ही वास्तविक धर्म है; अतः इस धर्मभावना में निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का ही विचार किया जाता है, चिन्तन किया जाता है, धर्म की ही बारम्बार भावना भाई जाती है।

पृष्ठ-१६२

(५६५)

भोला जगत भले ही चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष के गीत गाता हो, उनकी तुलना धर्म से करता हो; पर धर्म की तुलना में वे कहाँ ठहरते हैं? चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष दोनों ही अनन्तसुख-शान्ति देनेवाले पावन धर्म की समानता नहीं कर सकते।

इसप्रकार धर्मभावना में रत्नत्रय धर्म की अचिन्त्य महिमा बताकर जीवन को धर्ममय बना लेने की पावन प्रेरणा दी जाती है। पृष्ठ-१६४

(५६६)

ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान शुद्धात्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है, निश्चयधर्म है; इसके बिना किया गया सर्व क्रियाकाण्ड निष्फल है, किंचित् मात्र भी कार्यकारी नहीं है — इस तथ्य का चिन्तन भी धर्मभावना में भरपूर किया जाता है। पृष्ठ-१६६

(५६७)

निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

पृष्ठ-१६८

(५६८)

यद्यपि यह सत्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को ही बोधि कहते हैं तथा वास्तविक धर्म भी यह रत्नत्रय ही है — इसप्रकार बोधि और धर्म एकार्थवाची ही हैं; तथापि बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता अर्थात् रत्नत्रय की दुर्लभता का चिन्तन किया जाता है और धर्मभावना में धर्म अर्थात् रत्नत्रय के स्वरूप एवं महिमा का चिन्तन किया जाता है।

बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता के साथ-साथ उन संयोगों की दुर्लभता का चिन्तन भी किया जाता है, जिन संयोगों के बिना बोधि की प्राप्ति संभव नहीं है अथवा जिन संयोगों में बोधि की प्राप्ति की संभावना रहती है। निराशा का वातावरण तोड़ने के लिए बोधि की सुलभता का स्वरूप भी स्पष्ट किया जाता है।

बोधिदुर्लभभावना में रत्नत्रयरूप धर्म की दुर्लभता और सुलभता का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है और धर्मभावना में रत्नत्रयरूप धर्म का स्वरूप व महिमा बताई जाती है। बोधिदुर्लभभावना में धर्म की दुर्लभता बताकर उसे प्राप्त कर लेने की सशक्त प्रेरणा दी जाती है और धर्मभावना में धर्म का स्वरूप स्पष्ट कर उसे धारण करने का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। पृष्ठ-१६९

(५६९)

एकार्थवाची तो बोधि और धर्म शब्द हैं; पर भावनाओं के नाम बोधिभावना व धर्मभावना नहीं, बोधिदुर्लभभावना और धर्मभावना है। बोधिदुर्लभ शब्द का अर्थ धर्म नहीं, धर्म की दुर्लभता है। हम इन भावनाओं को धर्मदुर्लभभावना और धर्मभावना भी कह सकते हैं। पृष्ठ-१६९-१७०

(५७०)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म; निज भगवान आत्मा की उपासना, आराधना, भावना एवं साधना तथा भगवती अहिंसा — ये सभी एकमात्र वीतराग-परिणतिरूप धर्म के ही रूपान्तर हैं, नामान्तर हैं; अतः इन सबकी भावना ही धर्मभावना है। इन सबका वैराग्योत्पादक आत्मोन्मुखी चिन्तन ही धर्मभावना का मूल भाव्य है।

पृष्ठ-१७१

(५७१)

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निर्मलपरिणाम — शुद्धभाव ही वास्तविक धर्म है। विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से की गई धर्म की व्याख्याएँ विभिन्न प्रकार से जीव के स्वभावभावरूप शुद्धपरिणामों को ही धर्म निरूपित करती हैं, उनमें कहीं कोई विरोधाभास नहीं है। पृष्ठ-१७२

(५७२)

विश्वविख्यात समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो निज भगवान आत्मा की आराधना को धर्म कहता है; स्वयं के दर्शन को सम्यग्दर्शन, स्वयं के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और स्वयं के ध्यान को सम्यक्चारित्र कहकर इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही वास्तविक धर्म घोषित करता है। ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त करनेवाला अनन्त स्वतंत्रता का उद्घोषक यह दर्शन प्रत्येक आत्मा को सर्वप्रभुतासम्पन्न परमात्मा घोषित करता है और उस परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय भी स्वावलम्बन को ही बताता है।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं परमात्मा ही है; तथापि यह अपने परमात्मस्वभाव को भूलकर स्वयं पामर बन रहा है। पर्यायगत पामरता को समाप्त कर स्वभावगत प्रभुता को पर्याय में प्रगट करने का एकमात्र उपाय पर्याय में स्वभावगत प्रभुता की स्वीकृति ही है, अनुभूति ही है। स्वभावगत प्रभुता की पर्याय में स्वीकृति एवं स्वभावसन्मुख होकर पर्याय की स्वभाव में स्थिरता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, धर्मभावना है। पृष्ठ-१७३

(५७३)

पर्याय की पामरता के नाश का उपाय पर्याय की पामरता का चिन्तन नहीं, स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है। स्व-स्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है; धर्म की साधना है, आराधना है, उपासना है, धर्म की भावना है, धर्मभावना है। पृष्ठ-१७३



पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

पहला दिन

(५७४)

पंचकल्याणक महोत्सव अन्य लौकिक मेलों के समान आमोद-प्रमोद का मेला नहीं है, यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक मेला है; जिसके साथ सम्पूर्ण जैन समाज की आस्थाएँ और धार्मिक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। इसमें खान-पान और खेलने-कूदने की प्रधानता नही रहती; अपितु संयम और तप-त्याग की प्रधानता होती है, वातावरण एकदम आध्यात्मिक बन जाता है। पृष्ठ-१

(५७५)

जिनमन्दिरों में विराजमान जिनबिम्बों का अपना एक महत्त्व है। वे जिनबिम्ब हमारी संस्कृति के प्रतीक ही नहीं, संरक्षक भी हैं। सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए लाखों जिनबिम्ब हमारे समृद्ध अतीत के सबूत तो हैं ही, यह भारत हमारी मूल भूमि है, इसके भी सशक्त प्रमाण हैं।

पाषाणों में उत्कीर्ण या धातुओं से ढले ये वीतरागी जिनबिम्ब (मूर्तियाँ) तबतक पूजने योग्य नहीं माने जाते, जबतक कि उनकी विधिपूर्वक प्रतिष्ठा नहीं हो जाती। इसी प्रतिष्ठाविधि को सम्पन्न करने के लिए जो महोत्सव होता है, उसे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कहते हैं। पृष्ठ-२

(५७६)

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है। इस महोत्सव में पंचकल्याणक सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रियाओं के माध्यम से आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का प्रदर्शन होता है, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से समागत श्रद्धालुओं को आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई जाती है। पृष्ठ-२

(५७७)

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो यह कहता है कि प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है। अपना यह आत्मा स्वभाव से तो परमात्मा है ही, यदि स्वयं को जाने, पहिचाने और स्वयं में ही जम जावे; तो प्रकट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकता है। पृष्ठ-२

(५७८)

हमारे चौबीसों ही तीर्थंकर अपनी पिछली पर्यायों में हमारे समान ही पामर पर्यायों में थे; पर उन्होंने स्वयं को जाना, पहिचाना, स्वयं का अनुभव किया; स्वयं में ही समा गये; परिणामस्वरूप तीर्थंकर बने, सर्वज्ञ हुए। भले ही इस प्रक्रिया के सम्पन्न करने में दस-पाँच भव लग गए हों; पर उन्होंने अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर ही लिया।

भगवान महावीर ने यह महान कार्य अपने दश भव पहले शेर की पर्याय में आरम्भ किया था और भगवान पार्श्वनाथ ने यह कार्य हाथी की पर्याय में आरम्भ किया था। इससे सिद्ध होता है कि जैनदर्शन मात्र नर से नारायण बनाने वाला दर्शन नहीं, अपितु पशु से परमेश्वर बनाने वाला वीतरागी दर्शन है। पृष्ठ-२-३

(५७९)

न तो नये बनने वाले प्रत्येक जिनमन्दिर का निषेध ही आवश्यक है और न बिना विचारे समर्थन करना ही ठीक है। इसी प्रकार न तो प्रत्येक पंचकल्याणक का विरोध उचित है और न ही बिना समझे समर्थन करना ठीक है। प्रत्येक के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से गुण-दोष के आधार पर सहमती और असहमती व्यक्त की जानी चाहिए। पृष्ठ-४

(५८०)

आवश्यकतानुसार ही होने वाले जिनमन्दिरों के निर्माण और पंचकल्याणकों पर प्रतिबंध लगाने के स्थान पर उनमें समागत विकृतियों का परिमार्जन किया जाना अधिक जरूरी है, उनका उपयोग वीतरागी धर्म के समुचित प्रचार-प्रसार में किया जाना ही सही मार्ग है। नकारात्मक रास्ता चुनने के स्थान पर रचनात्मक रास्ता चुनना ही श्रेयस्कर है। पृष्ठ-५

(५८१)

ये पंचकल्याणक ऐसी पाँच घटनाएँ हैं, जो भरत क्षेत्र के चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन में समान रूप से ही घटित हुई थीं। अतः किसी भी तीर्थंकर को विधिनायक क्यों न बनाया जाय, कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़कर कोई विशेष अन्तर नहीं आता। माता-पिता के नाम, जन्मस्थान, वैराग्य का निमित्त आदि बातों में ही अन्तर आता है, शेष तो सब समान ही हैं। वे ही सौधर्मादि इन्द्र, वही सुमेरुपर्वत, वही पांडुकशिला, वैसा ही अभिषेक आदि सब एक-सा ही होता है।

पृष्ठ-६

दूसरा दिन

(५८२)

पंचकल्याणक महोत्सव में जितने भी जिनबिम्ब (प्रतिमाएँ) प्रतिष्ठित होने आते हैं, वे सभी प्रतिष्ठित होकर ही जाते हैं, भगवान बनकर ही जाते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि प्रतिष्ठित जिनबिम्बों को स्थापनानय और स्थापनानिक्षेप के आधार पर भगवान कहने का ही व्यवहार प्रचलित है, जो उचित भी है।

पृष्ठ-७

(५८३)

प्रतिष्ठा महोत्सव में समागत धातु या पाषण की मूतियाँ जब भी यहाँ से वापिस जायेंगी, तब वे भगवान बन कर ही जायेंगी, पर इस पंचकल्याणक में समागत जनता की भी कोई जिम्मेदारी है कि वे जैसे आये हैं, वैसे ही वापिस न चले जावें, यहाँ से कुछ लेकर जावें, कुछ सीखकर जावें। भले ही वे मूर्तियों के समान भगवान न बन पावें, पर उनमें भी तो कुछ न कुछ परिवर्तन तो आना ही चाहिए।

पृष्ठ-७

(५८४)

आप जरा सोचिए तो सही कि आप शान्ति के इस महायज्ञ में पधारे हैं, तो क्या आपका चित्त रंचमात्र भी शान्त न होगा, विषय-कषाय की ज्वालाएँ वैसी की वैसी ही जलती रहेंगी?

पृष्ठ-९

(५८५)

यदि आप यहाँ से कुछ ले कर गये, कुछ शान्त होकर गये, कुछ बदलकर गये, कुंछ धर्मनिष्ठ होकर गये, तो उसमें आपका तो परमं लाभ है ही; पंचकल्याणक की भी सार्थकता इसी में है और आयोजकों के श्रम की सफलता भी इसी में है।

पृष्ठ-९

(५८६)

यह इन्द्रप्रतिष्ठा इसलिए भी आवश्यक है कि यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एक अत्यन्त विशाल और महान महोत्सव है। इसकी पूजा-पाठ और क्रिया-प्रक्रिया में जो व्यक्ति सम्मिलित हो जाता है, वह बीच में इससे अलग नहीं हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति के घर सूआ या सूतक हो जावे तो समस्या खड़ी हो सकती है, पर इस इन्द्रप्रतिष्ठा से उस आठ दिन के लिए उस व्यक्ति का गोत्र ही बदल जाता है, जाति ही बदल जाती है, गति ही बदल जाती है; इस कारण उसे उस सूआ-सूतक का दोष नहीं लगता। अब तो वह इन्द्र बन चुका है, साधारण मानव नहीं रहा है तो मानव परिवार को लगने वाला सूआ-सूतक से वह कैसे प्रभावित हो सकता है?

पृष्ठ-१०

(५८७)

नाटक समयसार अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट नाटक है और ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव व्यवहार के सर्वोत्कृष्ट नाटक हैं, जो हमारे जीवन को परिमार्जित करते हैं। मूल पात्रों के जीवन को सीमित समय में चतुर निर्देशकों के निर्देशन में अभिनेताओं द्वारा अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाना ही तो नाटक का वास्तविक स्वरूप है। इन पंचकल्याणकों का निर्देशक प्रतिष्ठाचार्य होता है। प्रतिष्ठाचार्य के निर्देशन में तीर्थंकरों के जीवन की कल्याणकारी घटनाओं को पात्रों द्वारा सीमित समय में पंचकल्याणकों के स्टेज पर प्रस्तुत किया जाना ही पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव है। इसमें नाटक के सभी तत्त्व विद्यमान हैं।

पृष्ठ-११

(५८८)

यह पंचकल्याणक नकली नहीं है, असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, सत्य प्रतिलिपि है; अतः इसकां फल भी असली के समान ही प्राप्त होता है। नाटक भी तो नायक का असली जीवन नहीं होता, नायक के जीवन की असल-नकल ही होता है; पर उसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। उसीप्रकार यह पंचकल्याणक भी तीर्थंकर ऋषभदेव के असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, पर इसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। पृष्ठ-१२

(५८९)

आप अयोध्या के नागरिक हैं और यह चतुर्थकाल का आरंभिक काल है। आप भी इस महानाटक के एक पात्र हैं। भले ही आपने कोई बोली न बोली हो, इन्द्र न बने हों, सक्रिय कार्यकर्ता भी न हों, मात्र लाभ लेने ही आये हों, फिर भी आप अयोध्या के नागरिक के रूप में इस महानाटक के एक पात्र हैं। अतः आपका व्यवहार भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों के समान शालीन होना चाहिए, तभी यह पंचकल्याणक असली पंचकल्याणक की असल-नकल होगा और उसका पूरा-पूरा लाभ आपको प्राप्त होगा।

पृष्ठ-१३

(५९०)

हमें भी यदि आत्मा का उत्थान करना है तो सहज व सरल वृत्ति का बनना होगा। पृष्ठ-१४

(५९१)

आज आपकी भी अयोध्या के नागरिक के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। अब आप ऐसा अनुभव कीजिए कि आप राजा नाभिराय की प्रजा हैं। यदि आप ऐसा कर सके तो निश्चित रूप से आपके परिणाम कुछ न कुछ कोमल, कुछ न कुछ सरल अवश्य होंगे और आपको इस पंचकल्याणक में सम्मिलित होने का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त होगा। पृष्ठ-१४

तीसरा दिन

(५९२)

जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है, तब उसके पूर्व माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह सपने आते हैं,जो इस बात के सूचक होते हैं कि माता के गर्भ में तीर्थंकर का जीव आने वाला है। आज रात को वही सोलह स्वप्नों का दृश्य दिखाया जायगा। उसमें सब बातें प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा स्पष्ट की जावेंगी।

यह तो आप जानते ही हैं कि जब भी कोई महान कार्य सम्पन्न होता है तो वह ऐसे ही सम्पन्न नहीं हो जाता। पहले वह हमारे सपनों में आता है, हम सपने सजाते हैं, हमारे मानस का निर्माण भी उसीप्रकार का होता है, वह निरन्तर हमारे चिन्तन का विषय बनता है, हम उसमय हो जाते हैं, तब कोई महान कार्य सम्पन्न होता है। हर कार्य की एक भूमिका होती है।

ताजमहल जमीन पर बनने के पहले किसी के सपनों में बना होगा, किसी के कल्पनाजगत में अवतरित हुआ होगा। उसके बाद नक्शे के रूप में कागज पर आया होगा, तब कहीं जाकर जमीन पर बना होगा। पृष्ठ-१५

(५९३)

तीर्थंकर अपनी माँ के इकलौते पुत्र होते हैं। वे अपनी माँ की पहली संतान होते हैं और उनके जन्म के बाद माँ पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ले लेती है, अतः दूसरी संतान होने का सवाल ही नहीं रहता। है ऐसी कोई माता, जो भरी जवानी में पहली संतान के बाद ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की भावना रखती हो? अकेले ब्रह्मचर्य ही की बात नहीं है, और भी अनेक विशेषताएँ होती हैं तीर्थंकर की माता में। पृष्ठ-१६

(५९४)

माता-पिता की बोली भी नहीं लगती है, क्योंकि इनमें पैसे की मुख्यता नहीं होती, सदाचारी जीवन की मुख्यता होती है, गरिमा की मुख्यता होती है। पृष्ठ-१६

(५९५)

वस्तुतः यह पंचकल्याणक भगवान बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है, इन्द्र या राजा बनने या भगवान के माँ-बाप बनने की प्रक्रिया का महोत्सव नहीं है। इसमें भगवान बनने की विधि बताई जाती है, भगवान बनने की प्रेरणा दी जाती है, इन्द्रादि बनने की नहीं; तथापि इन्द्र व राजा बनने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, भगवान के माँ-बाप बनने वाले भी मिल जाते हैं, पर भगवान बनने की कोई नहीं सोचता। पृष्ठ-१६-१७

(५९६)

दु:ख की बात यह है कि सभी को भगवान का बाप बनना है, भगवान कोई नहीं बनना चाहता। अनन्त आनन्द तो भगवान बनने में है, भगवान के माता-पिता बनने में नहीं। भगवान के माता-पिता बने बिना भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, पर भगवान बने बिना मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। अत: सभी को भगवान बनने की ही भावना भानी चाहिए। पृष्ठ-१८

(५९७)

अपने परिणामों को भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों जैसे बनाने होंगे। न सही सदा के लिए पर, इन आठ दिनों के लिए तो अपने परिणाम सरल करने ही होंगे, कोमल करने ही होंगे। इसके बिना तो हमारा यह पंचकल्याणक सत्य प्रतिलिपि भी साबित न होगा। ऐसी स्थिति में यथोचित लाभ भी कैसे प्राप्त होगा? यह एक विचारणीय बात है। पृष्ठ-१८-१९

(५९८)

जब एक बार आठ दिन के लिए हमारा जीवन सदाचारमय हो जायगा; शुद्ध, सरल, सहज व सात्विक हो जायगा तो हम उसके लाभ से भी अच्छी तरह परिचित हो जावेंगे। अत: ऐसा भी हो सकता है कि फिर हम जीवन भर ही शुद्ध, सात्विक, सरल व सदाचारी बने रहें। पृष्ठ-१९

(५९९)

आत्मा के कल्याण करने का सर्वोत्कृष्ट अवसर है यह पंचकल्याणक महोत्सव। यदि इस अवसर पर भी हमारे परिणाम नहीं सुधरे तो फिर कौन-सा अवसर आवेगा? साक्षात् तीर्थंकर तो आपको समझाने के लिए आने से रहे। पृष्ठ-२२

(६००)

यह पंचकल्याणक महोत्सव अपने कल्याण के लिए ही मनाया जा रहा है। यह भगवानं का नहीं, अपना ही महोत्सव है। भगवान का कल्याणं तो हो चुका है, पर अभी अपना कल्याण होना बाकी है। इसी का यह महान अवसर है। पृष्ठ-२२

(६०१)

सम्पूर्ण नगरवासियों के ही परिणाम सुधर गये थे। परिणामस्वरूप सर्वत्र समृद्धि का साम्राज्य आ गया था। रत्नों की वर्षा से और क्या होगा? यही तो होगा, यही हुआ; किसी को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं रही। पृष्ठ-२२

(६०२)

सब परिणामों का खेल है। यह पंचकल्याणक महोत्सव भी परिणाम सुधारने का सर्वोत्कृष्ट निमित्त है। आचार्य पूज्यपाद ने इन्हें सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा है। सम्यग्दर्शन भी तो आत्मा के आत्मसम्मुख निर्मल परिणामों का नाम है।

परिणाम भी तो अपरिणामी भगवान आत्मा के आश्रय से सुधरते हैं। अतः अपने उपयोग को सम्पूर्ण जगत से हटाकर त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा पर केन्द्रित कीजिए, भगवान बनने का यही उपाय है। अब राजा-रानी और इन्द्र-इन्द्राणी बनने का विकल्प छोड़कर स्वयं भगवान बनने की भावना को जागृत कीजिए। पृष्ठ-२३

चौथा दिन

(६०३)

'कल्याणं करोतीति कल्याणकः' उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार कल्याण करने वाले को कल्याणक कहते हैं। ये पाँचों ही कल्याणक आत्मा के कल्याण के उत्कृष्ट निमित्त होने के कारण कल्याणक कहलाते हैं। हम सब भी आत्म-कल्याण तो करना ही चाहते हैं; इसीकारण हम सब इस पंचकल्याणक में उत्साहपूर्वक भाग ले रहे हैं। पृष्ठ-२४

(६०४)

अरे भाई, यह तो जन्म-मरण का नाश करने वाले का जन्मोत्सव है। वह जन्म तो कल्याणस्वरूप ही है,जिसमें जन्म-मरण के नाश करने का अपूर्व पुरुषार्थ किया जाता है।

जो जन्म स्व-पर के कल्याण से सार्थक हुआ हो, वही जन्म कल्याणस्वरूप होता है, इसीकारण तीर्थंकरों का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया जाता है।

यह उनका अन्तिम जन्म था, इसलिए कल्याणस्वरूप हो गया। इसके बाद उनका जन्म नहीं होगा। जन्म नहीं होगा तो मरण भी नहीं होगा; क्योंकि मरण संज्ञा उसी देहावसान की है, जिसके बाद अन्य देह का धारण हो, कहीं अन्यत्र जन्म हो। पृष्ठ-२५ व २६

(६०५)

जिस जन्म के बाद मरण न हो, निर्वाण हो; वह जन्म ही कल्याणस्वरूप है, उसका ही महोत्सव मनाया जाता है। पृष्ठ-२६

(६०६)

अभी तो तीर्थंकर का जीव गर्भ में भी नहीं आया कि उसके पहले से ही रत्नों की वर्षा, देवियों द्वारा माता की सेवा और अयोध्या के सभी नागरिकों, माता-पिता एवं परिवारजनों को सर्वप्रकार अनुकूलता हो गई है। तीर्थंकर प्रकृति जैसे महान पुण्य के साथ कुछ ऐसा भी पुण्य बंध सहज ही होता है, जो आगे-आगे चलकर सर्वप्रकार अनुकूलता प्रदान करता है। पृष्ठ-२७

(६०७)

हमारे प्रतिष्ठाचार्यों की बात आप ध्यान से सुनेंगे तो वे यही कहते मिलेंगे कि तीर्थंकर का जीव माँ के गर्भ में आया, बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम ऋषभ रखा गया, राजकुमार ऋषभ की शादी हुई, युवराज ऋषभ का राजतिलक हुआ, महाराज ऋषभ ने दीक्षा ली, मुनिराज ऋषभ को केवलज्ञान हुआ एवं भगवान ऋषभदेव को मोक्ष की प्राप्ति हुई। पृष्ठ-२८

(६०८)

मुनि दीक्षा लेने के पूर्व जो भी कथनी व करनी है, वह सब राजा ऋषभदेव की मानकर ही विचार करना चाहिए। केवलज्ञान होने के बाद जो दिव्यध्वनि

खिरी, वह सब भगवान ऋषभदेव का उपदेश है, जो कि मुक्ति के मार्ग में पूर्णतः आचरणीय एवं माननीय है। पृष्ठ-३०

(६०९)

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारने से आपके परिणाम निरन्तर निर्मल हो भी रहे हैं। इसका अनुभव आप स्वयं भी कर रहे होंगे। हम तो कर ही रहे हैं। आप जितने उत्साह से भाग ले रहे हैं, जितने समर्पित भाव से योगदान कर रहे हैं, उससे प्रतीत होता है कि आपकी भावनाओं में निर्मलता बढ़ी है। आपके समय और श्रम का सदुपयोग हो रहा है, पैसे का सदुपयोग हो रहा है। पृष्ठ-३१

पाँचवाँ दिन

(६१०)

गर्भकल्याणक का दिन तो लगभग ९ माह का ही था, पर यह जन्मकल्याणक का दिन ८३ लाख पूर्व का है। जन्मकल्याणक का अर्थ मात्र जन्म दिन से ही नहीं है; अपितु जन्मकल्याणक के दिन ही वे सभी चीजें प्रस्तुत की जाती हैं, जो दीक्षा लेने के पूर्व तक घटित होती हैं। जैसे पालना झूलन, युवराज पद की प्राप्ति, राज्याभिषेक आदि। ऋषभदेव २० लाख पूर्व तक तो कुमार अवस्था में रहे और उसके बाद ६३ लाख पूर्व तक राज किया। इसी बीच शादी-विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि सभी प्रसंग बने। पृष्ठ-३३

(६११)

हजारों तर्क-वितर्क जहाँ निष्फल हो जाते हैं, हृदय को पिघला देने वाली भावनाओं का उद्वेग वहाँ भी रास्ता निकाल लेता है।

पृष्ठ-३४

(६१२)

नारियों की सबसे बड़ी शक्ति ही भावावेग है; पर तुम यह क्यों भूल जाती हो कि भावावेग का यह शस्त्र भी रागियों पर ही चलता है, वैरागियों पर नहीं। यदि वैरागी भी इससे परास्त होने लगते तो अब तक कोई दीक्षा ही न ले पाता; क्योंकि इस शस्त्र का प्रयोग तो प्रत्येक माँ करती है, पत्नियाँ भी करती हैं,

पर असली वैरागी को तो आज तक न तो कोई माँ रोक सकी है और न कोई पत्नी। विवेकी वैरागियों पर न तर्क का वश चलता है और न वे भावनाओं के वेग में ही बहते हैं। पृष्ठ-३४

(६१३)

प्रत्येक माँ-बाप का यह कर्तव्य होता है कि वह अपनी संतान की समुचित शिक्षा-दिक्षा के बाद उसकी शादी करें, उसे गृहस्थधर्म में नियोजित करें। पृष्ठ-३५

(६१४)

जिसे अपने शस्त्रों पर ही भरोसा न हो, उसकी हार तो निश्चित ही है। पृष्ठ-३५

(६१५)

पुत्र से क्या जीतना और क्या हारना ? पुत्रों से जीतने में तो जीत है ही, हारने में भी जीत ही है, यहाँ तो जीत ही जीत है, हार है ही नहीं; निराश मत होओ, चलो, जल्दी चलो। पृष्ठ-३५

(६१६)

जिसके पास विवेक की ढाल है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैराग्य का बल है, उस पर आँसुओं की बौछारों का असर नहीं होता।

महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। 'मन में हो और मूंढ हिलावे' वाली प्रंवृत्ति उनकी नहीं होती।

पृष्ठ-३६ व ३७

(६१७)

गृहस्थधर्म में ऐसा ही होता है, अंतरंग रुचि भी रहती है,उचित वैराग्य भी रहता है और भूमिकानुसार राग भी होता ही है। पृष्ठ-३७

(६१८)

महापुरुषों के मन को जानने के लिए भी उन जैसा सूक्ष्म मन चाहिए। पृष्ठ-३८

(६१९)

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अंतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कंहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

संयोग और संयोगीभावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अत: संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-३९

(६२०)

माता-पिता के अति अनुराग में भी ऐसा हो सकता है। मेरा पुत्र दीक्षित न हो जाय - यह आशंका उनके चित्त को इतना अधिक विचलित कर देती है कि उन्हें अपने पुत्र की जरा-सी वैराग्यवृत्ति सशंक कर देती है। नाभिराय और मरुदेवी का यह सोचना कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, मात्र उनके अति अनुराग को ही सूचित करता है, इससे अधिक कुछ नहीं। पृष्ठ-३९

(६२१)

महापुरुषों की 'हाँ' को कोई 'ना' में नहीं बदल सकता और न 'ना' को 'हाँ' में ही बदल सकता है। पृष्ठ-३९

(६२२)

अतिशय भक्ति में बिना कार्यक्रम के ही नाच उठना अलग बात है और सुनियोजित भीड़ के सम्मुख अपनी कला प्रदर्शन के लिए नाचना अलग बात है; दोनों में मुहर-कोड़ी का अन्तर है। इस मूढ जगत को प्रसन्न करने के लिए तो वेश्यायें नाचा करती हैं। भक्ति में विभोर होकर जब हमारा मन मयूर नाच उठता है तो कदाचित तन भी नाचने लगता है।

पृष्ठ-४०

(६२३)

ज्ञानियों की भक्ति भी उनके प्रमुदित मन का परिणाम होती है, किसी अन्य की प्रसन्नता के लिए नहीं। इन्द्र भी सहज भक्तिवश नाचता है, प्रदर्शन के लिए नहीं। तीर्थंकर ऋषभ का जन्मकल्याणक देखकर हमारा मन मयूर नाच उठे तो हम भी नाचें, कोई हानि नहीं, पर जगत के लक्ष्य से नृत्य करना भक्ति नहीं है। पृष्ठ -४०

(६२४)

जो निरन्तर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने या प्रतिष्ठा बढ़ाने के चक्कर में रहते हैं। प्रतिष्ठा महोत्सव के माध्यम से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के व्यामोह में फँसे इन लोगों से मैं विनम्र अनुरोध करना चाहता हूँ कि यह तो जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का महोत्सव है, इसे अपनी प्रतिष्ठा का साधन बनाना ठीक नहीं है। अपने हृदय में आत्मभावना प्रतिष्ठित करने का यह अमूल्य अवसर है; अत: इस अवसर पर तो अपने परिणामों को सरल व सहज बनाने का यत्न किया जाना चाहिए। पृष्ठ -४१

(६२५)

गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के दिन जनता की अपार प्रसन्नता के दिन होते हैं, राग-रंग के दिन होते हैं और उसके बाद के कल्याणक वैराग्य और वीतरागता के होते हैं। यह महोत्सव राग से वैराग्य की ओर ले जाने वाला महोत्सव है। पृष्ठ-४१

(६२६)

जिन पंचकल्याणकों में साधु संतों की उपस्थिति रहती है, उनमें साधु संत गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के उत्सवों में सम्मिलित नहीं होते। वे तो दीक्षाकल्याणक में ही आते हैं। वे कहते हैं कि इन राग-रंग के कल्याणकों में हमारा क्या काम? हम तो वैराग्य के प्रसंग में ही आवेंगे। पृष्ठ-४१

(६२७)

मुनिराजों की तो क्या कहें, लोकांतिक देव भी दीक्षाकल्याणक के पहले नहीं आते; क्योंकि वे ब्रह्मचारी होते हैं। ऊपर के अहमिन्द्र भी नहीं आते;

क्योंकि उनके भी प्रविचार का पूर्णत: अभाव होता है। अहमिन्द्रों के देवांगनाएँ भी नहीं होतीं। पृष्ठ-४१

(६२८)

वस्तुत: तीर्थंकर ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक होने के साथ-साथ युग प्रवर्तक भी हैं; हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए। पृष्ठ-४३

छठवाँ दिन

(६२९)

निमित्तों से क्या होता है, जबतक अन्तर की योग्यता का परिपाक न हो। पृष्ठ-४८

(६३०)

जब अन्दर की तैयारी हो, काललब्धि आ जावे, पर्यायगत योग्यता का परिपाक हो जावे तो निमित्त भी मिल ही जाता है और काम हो जाता है। पृष्ठ-४८

(६३१)

जब धर्म की प्रवृत्ति आरंभ होती है तो उसका विरोध भी आरंभ हो जाता है और असली धर्मात्माओं से भी अधिक नकली धर्मात्मा खड़े हो जाते हैं। इसीप्रकार मुक्ति के मार्ग के साथ-साथ नरक निगोद का रास्ता भी खुल जाता है। पृष्ठ-५२

(६३२)

कैसा विचित्र संयोग है कि ऋषभदेव के रूप में यदि एक व्यक्ति ने सच्चा मुनिधर्म अंगीकार किया तो रागवश या अज्ञानवश चार हजार लोगों ने बिना कुछ सोचे-समझे मुनिवेष धारण कर लिया। यह अनुपात तो युग की आदि का है। उसके बाद तो निरन्तर दशा बिगड़ी ही है। इससे हम आज की स्थिति का अनुपात लगा सकते हैं।

इसीप्रकार जब ऋषभदेव की दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्ति का मार्ग उद्घाटित हुआ तो मारीचि आदि के माध्यम से उसका विरोध आरंभ हो गया। इसप्रकार युग की आदि में ही जहाँ एक ओर ऋषभदेव की सच्ची साधुता और

दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्ति के मार्ग का प्रचार-प्रसार हुआ, वहीं दूसरी ओर शिथिलसाधुता और वीतरागी तत्त्व के विरोध के माध्यम से नरक-निगोद का रास्ता भी खुल गया। पृष्ठ-५२

(६३३)

शिथिलाचार को रोकना कोई साधारण काम नहीं है, वह तो शक्तिशाली समर्थ लोगों का काम है। उन चार हजार नवदीक्षित राजाओं को भी तो इन्द्र ने ही रोका था, किसी साधारण व्यक्ति ने नहीं। यह काम तो समाज के उन कर्णधारों का है, जो समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, समाज को संचालित करते हैं। यदि वे स्वयं शिथिलाचार का पोषण करते हैं तो फिर हम और आप क्या कर सकतें हैं? अत: मैं तो सभी आत्मार्थी बंधुओं से यही अनुरोध करता हूँ कि इसमें अपने को उलझायें नहीं। जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा; हम किस-किस को बचाते फिरेंगे? हाँ, हम स्वयं वस्तु का सच्चा स्वरूप समझकर स्वयं को अवश्य बचा सकते हैं। पृष्ठ-५३

(६३४)

नीलांजना की मृत्यु पर जगत का निष्ठुर व्यवहार देखकर ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। पृष्ठ-५५

(६३५)

काललब्धि आये बिना, पर्यायगत योग्यता के परिपाक के बिना, मात्र निमित्तों से वैराग्य नहीं होता और देखा-देखी दीक्षा लेने का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता। पृष्ठ-५५

(६३६)

सूक्ष्मता से विचार करें तो जबतक केवलज्ञान संबंधी कार्यक्रम आरंभ नहीं होता, तबतक दीक्षाकल्याणक का समय ही समझना चाहिए।

पृष्ठ-५६

(६३७)

देखो, विधि की विडम्बना, जो स्वयं तीर्थंकर हो, जिसके जन्मकल्याणक में इन्द्रों ने अतिशय सम्पन्न महोत्सव मनाया हो, जिसके गर्भ में आने के पहले

ही देवियाँ माता की सेवा करने आ गई हों, जिसने सम्पूर्ण जगत को कर्मभूमि के आरंभ में सब प्रकार शिक्षित किया हो; उसे दीक्षा लेने के बाद आहार का भी योग न मिला। सातिशय पुण्य के धनी और धर्मात्मा भावलिंगी सच्चे संत होने पर भी उस समय उनके पल्ले में इतना भी पुण्य नहीं था कि विधिपूर्वक दो रोटियाँ ही उपलब्ध हो जातीं।

पुण्य की कमी थी, ऐसी कोई बात नहीं थी। सत्ता में तो तीर्थंकर प्रकृति पड़ी थी और निरन्तर बंध भी रही थी, पर सत्ता में पड़ा कर्म कार्यकारी नहीं होता। जबतक कर्म उदय में न आवे, तबतक वह कार्य की उत्पत्ति में निमित्त भी नहीं होता और तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है, अतः उसके पहले वह किसी कार्य में निमित्त भी नहीं हो सकती।

अन्य प्रकार के पुण्य की भी कोई कमी नहीं थी, अन्यथा लोग उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुयें क्यों भेंट करने को उत्सुक होते, पर निरन्तराय आहार की उपलब्धि का न तो पुण्योदय ही था और न उस समय की पर्याय की योग्यता ही ऐसी थी। पाँचों ही समवाय आहार नहीं मिलने के ही थे।

पृष्ठ-५६-५७

(६३८)

जिस दिन मुनिराज ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार मिला, वह दिन अक्षय तृतीया का शुभ दिन था। इसीकारण अक्षय तृतीया का महापर्व चल पड़ा। यही कारण है कि यदि ऋषभदेव को धर्मतीर्थ का प्रवर्तक माना जाता है तो राजा श्रेयांस को दानतीर्थ का प्रवर्तक। पृष्ठ-५७

(६३९)

समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है। अतः निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है। पृष्ठ-५८

(६४०)

वनवासी मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक आत्मसाधना कर सकेंगे। इसीकारण तो वे नगरवास का त्याग करते हैं, वन में रहते हैं, मनुष्यों की संगति की अपेक्षा वनवासी पशु-पक्षियों की संगति उन्हें कम खतरनाक लगती है; क्योंकि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भले ही थोड़ी-बहुत शारीरिक पीड़ा पहुँचावें, पर वे व्यर्थ की चर्चाएँ कर उपयोग को खराब नहीं करते। गृहस्थ मनुष्य तो व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से उनके उपयोग को भ्रष्ट करते हैं। जिस राग-द्वेष से बचने के लिए वे साधु हुए हैं, उन्हें ये गृहस्थ येनकेनप्रकारेण उन्हीं राग-द्वेषों में उलझा देते हैं। तीर्थों के उद्धार के नाम पर उनसे चन्दे की अपील करावेंगे, पंच-पंचायतों में उलझावेंगे, उनके सहारे अपनी राजनीति चलायेंगे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में अपनी राजनीति में समायोजित कर लेंगे।

इन गृहस्थों से बचने के लिए ही वे वनवासी होते हैं; पर आहार एक ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। अतः सावधानी के लिए उक्त नियम रखे गये हैं। एक तो यह कि जब वे आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर आते हैं, दूसरे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं; क्योंकि गृहस्थों के घर में बैठना उचित प्रतीत नहीं होता। गृहस्थों का सम्पर्क तो जितना कम हो, उतना ही अच्छा है। दूसरों से कटने का मौन सबसे सशक्त साधन है; वे उसे ही अपनाते हैं।

दूसरे, उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ है कि बैठकर शान्ति से खावें। उन्हें तो शुद्ध सात्विक आहार से अपने पेट का खड्डा भरना है, वह भी आधा-अधूरा। शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे भरपेट खाने में समय बर्बाद करना इष्ट नहीं है। जब हम भी किसी काम की जल्दी में होते हैं तो कहाँ ध्यान रहता है स्वाद का ? उन्हें भी गृहस्थ के घर से भागने की जल्दी है, सामायिक में बैठने की जल्दी है; आत्मसाधना करने की जल्दी है। बच्चों का मन भी जब खेल में होता है तो वे भी कहाँ शान्ति से बैठकर खाते हैं। माँ के अति अनुरोध पर खड़े-खड़े थोड़ा-बहुत खाकर खेलने भागते हैं। मन तो खेल में है, उन्हें खाने की फुर्सत

नहीं। उसीप्रकार हमारे मुनिराजों का मन तो आत्मध्यान में है, उन्हें शान्ति से बैठकर खाने की कहाँ फुर्सत है? पृष्ठ-५८-५९

(६४१)

मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में भी बाधा पड़ेगी। अत: वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पींछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा? बस, एक ग्रास ही न? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती। पृष्ठ-६०

(६४२)

रागियों की प्रवृत्तियाँ रागमय ही होती हैं, वैरागी और वीतरागी मुनिराजों को वे वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ कैसे सुहा सकती हैं? यह रहस्य है उनके करपात्री होने का। पृष्ठ-६१

(६४३)

आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिए कितना खतरनाक है? इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या

के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित्त करें। पृष्ठ-६१

(६४४)

मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्धर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए। पृष्ठ-६२

सातवाँ दिन

(६४५)

केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में, लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है। पृष्ठ-६४

(६४६)

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामादिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञान दर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवलीभगवान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; तथापि सभी पदार्थ बिना यत्न के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं। पृष्ठ-६४

(६४७)

केवलज्ञान में क्षेत्र और काल बाधक नहीं होते, किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं होती, लोकालोक का ज्ञान प्रतिसमय सहजभाव से होता रहता है और केवलज्ञानी अपने में मग्न रहते हुए भी लोकालोक के सभी पदार्थों

को सहजभाव से जानते-देखते रहते हैं। पदार्थों के परिणमन से न वे प्रभावित होते हैं और न उनके जानने-देखने से पदार्थों का परिणमन ही प्रभावित होता है, सहज ही निर्लिप्त भाव से ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध बना रहता है। पृष्ठ-६५

(६४८)

प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणमन होगा-यह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में झलक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले यह बता दिया था कि यह द्वारका नगरी बारह वर्ष बाद जल जायेगी और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जलने से रोका नहीं जा सका, आखिर वह जली ही।

इसीप्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी पड़ी हैं, जो इस बात को सुनिश्चित करतीं हैं कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है, अघटित कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवलीभगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं। पृष्ठ-६५

(६४९)

जब नग्न दिगम्बर बालक की बात को समझने में भाषा की समस्या नहीं आती तो नग्न दिगम्बर वीतरागी परमात्मा की एकाक्षरी बात भी जन-जन तक सहज भाव से पहुँच जावे तो कौनसी आश्चर्य की बात है? पृष्ठ-७२

(६५०)

पंचकल्याणक का यह देशनावाला प्रकरण ही सम्यग्दर्शन का मूलभूत निमित्त है। इसी के कारण सम्पूर्ण पंचकल्याणक के दर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा जाता है।

समवशरण में भी तो बाग-बगीचे हैं, नृत्यशालाएँ-नाट्यशालाएँ हैं, उनका दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं बनता है; अपितु दिव्यध्वनि में आने वाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्यंग्दर्शन का देशनालब्धि रूप निमित्त है।

रंगारंग के कार्यक्रम तो राग-रंग में ही निमित्त बनते हैं, वीतरागतारूप धर्म के निमित्त तो वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं। अत: सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत इन महोत्सवों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हों। तदर्थ शुद्धात्मा के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए। पृष्ठ-७२-७३

(६५१)

भगवान की दिव्यध्वनि भी उसी मूलवस्तु की मुख्यता से खिरती है। वह मूलवस्तु जीवादि तत्त्वार्थ हैं, उनमें भी निज भगवान आत्मा रूप जीवतत्त्व प्रमुख है; क्योंकि सम्यदर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की एकतारूप मुक्ति का मार्ग निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उपलब्ध होता है। पृष्ठ-७३

(६५२)

यह आत्मा देह के साथ रहने के कारण देह में ही अपनापन स्थापित कर लेता है, उसे अपना मानने लगता है और उसके प्रेम में पागल जैसा हो जाता है, उसकी साज संभाल में अपना समय, श्रम और शक्ति बर्बाद करता रहता है।

अत: सर्वप्रथम इस अशुचि देह और परमपवित्र भगवान आत्मा के बीच भेद-विज्ञान करना चाहिए; देह में से अपनापन तोड़ कर निज भगवान आत्मा में अपनापन करना चाहिए। पृष्ठ-७५

(६५३)

जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त नहीं होने पर हम इन पंचकल्याणकों में प्रतिष्ठित और जिनमंदिरों में विराजमान जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन कर अपना कल्याण करते हैं; उसीप्रकार जिनेन्द्र परमात्मा की वाणी

सुनने का साक्षात् अवसर प्राप्त न होने पर उनकी वाणी के अनुसार लिखी गई जिनवाणी का स्वाध्याय कर, उसके विशेषज्ञ वक्ताओं से उसका मर्म सुनकर समझकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए। यही मार्ग है। पृष्ठ-७९

(६५४)

यदि हमें अपने इस परिभ्रमण को रोकना है, संसारचक्र को तोड़ना है तो स्वयं के उपयोग को स्वयं में जोड़ना होगा, सम्पूर्ण जगत से नाता तोड़ना होगा और स्वयं को जानकर-पहिचान कर स्वयं में ही समा जाना होगा - यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं - यही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है।

पृष्ठ-८०

(६५५)

सर्वज्ञता तो धर्म का मूल है, उसके समझे बिना तो धर्म का आरंभ ही संभव नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ की वाणी के आधार पर रचित साहित्य को ही शास्त्र कहते हैं। सर्वज्ञ का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना शास्त्रों का मर्म भी समझना संभव न होगा। गुरु भी तो उन्हीं को कहते हैं, जो सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के अनुसार अपनी श्रद्धा बनाते हैं और उन्हीं के अनुसार जिनका आचरण होता है। पृष्ठ-८०-८१

आठवाँ दिन

(६५६)

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है। पृष्ठ-८२

(६५७)

मोक्ष माने मुक्त होना। दुःखों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनन्दमय अतीन्द्रिय दशा है। अबाधित अनंत-आनन्दमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति की

विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँच्छक होने के कारण ही हम सब मुमुंक्षु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्माराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है। पृष्ठ-८२-८३

(६५८)

इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ-न-कुछ मिल ही जाती हैं; पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती हैं और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अत: यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती है, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले। पृष्ठ-८७

(६५९)

पर के कल्याण के विकल्प में भी अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है। पृष्ठ-८८

(६६०)

जिनके संसार-सागर का किनारा समीप आ गया होगा, वे इतने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होने वाला नहीं है; अत: अधिक प्रलाप से क्या लाभ है। पृष्ठ-८८

❄ ❄ ❄

महावीर पूजन

यद्यपि युद्ध नहीं कियो, नांहि रखे असि-तीर।
परम अहिंसक आचरण, तदपि बने महावीर॥

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शाकाहार

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

(६६१)

शाकाहार को उसके व्यापक अर्थों में देखना होगा, प्रचारित करना होगा। गेहूँ, चावल आदि अनाज; आम, अमरूद, सेब, संतरा आदि फल और लोकी आदि सात्विक भक्ष्य सब्जियाँ भी शाकाहार में आती है। शाकाहार के रूप में इन्हें ही प्रदर्शित किया जाना चाहिए। पृष्ठ-२

(६६२)

शाकाहार शब्द में मांसाहार का निषेध तो हो जाता है, पर मदिरापान का निषेध नहीं होता है। मदिरापान भी एक ऐसी बुराई है कि जिसमें अनन्त जीवों का घात तो होता ही है; नशाकारक होने से मदिरा विवेक को नष्ट करती है, बुद्धि में भ्रम पैदा करती है, स्वास्थ्य को खराब करती है और पारिवारिक सुख शान्ति को समाप्त कर देती है। अतः मांसाहार के समान ही मदिरापान का निषेध भी आवश्यक है। पृष्ठ-२

(६६३)

श्रावकाचार में मांसाहार के निषेध के साथ-साथ मदिरापान का भी निषेध होता है, इसकारण भी शाकाहार के साथ श्रावकाचार शब्द जोड़ा गया है। पृष्ठ-३

(६६४)

जो मांसाहार से एकदम दूर हैं, उस जैन समाज के समक्ष मांसाहार के निषेधपूर्वक शाकाहार के रूप में आलू, बैंगन, मूली, गाजर आदि खाने का उपदेश देना हमें एकदम अटपटा लगता है। पृष्ठ-३

(६६५)

मांसाहारी पशु दिन में आराम करते हैं और रात में खाना खोजते हैं, शिकार करते हैं; पर शाकाहारी दिन में खाते हैं और रात में आराम करते हैं। जब

शाकाहारी पशुओं के भी सहज ही रात्रिभोजन त्याग होता है तो फिर मनुष्य का रात्रि में भोजन करना कहाँ तक उचित है? पृष्ठ-६

(६६६)

जैनाचार एवं जैन विचार प्रकृति के अनुकूल हैं; पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, आवश्यकता उन्हें सही एवं सशक्त रूप में प्रस्तुत करने की है। पृष्ठ-८

(६६७)

शाकाहार तो वनस्पति से उत्पन्न खाद्य को ही कहा जाता है, पर अंडे न तो अनाज के समान किसी खेत में ही पैदा होते हैं और न साग-सब्जी और फलों के समान किसी बेल या वृक्ष पर ही फलते हैं, वे तो स्पष्टः ही सैनीपंचेन्द्रिय मुर्गियों की संतान हैं। यह तो हम सब जानते ही हैं कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के शरीर का अंश ही मांस है, अतः अंडे से उत्पन्न खाद्य स्पष्ट रूप से मांसाहार ही है। पृष्ठ-८

(६६८)

दूध के निकलने से गाय, बकरी के जीवन को कोई हानि नहीं पहुँचती, जबकि अंडे के सेवन से अंडे में विद्यमान जीव का सर्वनाश ही हो जाता है। यदि दूध देनेवाली गाय, बकरी का दूध समय पर न निकले तो उसे तकलीफ होती है। पृष्ठ-८

(६६९)

जिसप्रकार अंडा मुर्गी की संतान है, उसप्रकार दूध गाय की संतान नहीं है। अतः सच तो यह कि अंडा दूध के समान नहीं, गाय के बछड़े के समान है। अतः अंडा खाना बछड़े को खाने जैसा ही है। पृष्ठ-९-१०

(६७०)

अंडे को शाकाहारी बताना अंडे के व्यापारियों का षड्यंत्र है, जिसके शिकार शाकाहारी लोग हो रहे हैं। पृष्ठ-१०

(६७१)

मद्य और मांस के साथ जैनदर्शन में मधु के त्याग का भी उपदेश दिया गया है। मधु मधुमक्खियों का मल है,उनके विनाश से उत्पन्न होता है और

इसमें निरन्तर असंख्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं। अतः यह भी खाने योग्य नहीं है।

पृष्ठ–११

(६७२)

अनिष्ट नामक अभक्ष्य में द्रव्यहिंसा भले ही न हो, पर भावहिंसा तो है ही। एक दृष्टि से द्रव्यहिंसा भी है; क्योंकि उसमें भले ही दूसरे के द्रव्य प्राणों का घात न होता हो, पर अस्वास्थ्यकर होने से अपने द्रव्य प्राणों का घात तो होता ही है। पीड़ा होना भी एकदेश घात ही है।

पृष्ठ–१३

(६७३)

शाकाहार स्वास्थ्य के लिए अनुकूल है, सस्ता है; जबकि मांसाहार अनेक बीमारियों का घर है और महंगा भी है; पर वे इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि वे अपवित्र है, अनैतिक है, हिंसक है एवं अनंत दु:खों का कारण है।

पृष्ठ–१३

(६७४)

शुद्ध सात्विक सदाचारी जीवन के बिना सुख–शान्ति प्राप्त होना तो दूर, सुख–शान्ति प्राप्त करने का उपाय समझने की पात्रता भी नहीं पकती। अतः जो आत्मिक शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं; प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति करना चाहते हैं, आत्मानुभूति प्राप्त करना करना चाहते हैं; उन्हें भी इस ओर पूरा–पूरा ध्यान देना चाहिए।

पृष्ठ–१६



अनित्य भावना

अंजुली–जल सम जवानी क्षीण होती जा रही।
प्रत्येक पल जर्जर जरा नजदीक आती जा रही॥
काल की काली घटा प्रत्येक क्षण मंडरा रही।
किन्तु पल–पल विषय–तृष्णा तरुण होती जा रही॥

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

गोम्मटेश्वर बाहुबली

(६७५)

यह भी एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि श्रमण संस्कृति के चौबीसों तीर्थंकर और वैष्णव संस्कृति के चौबीसों अवतार उत्तर भारत में ही हुए हैं तथा दोनों ही संस्कृतियों के प्रमुख आचार्य दक्षिण भारत की देन है।

पृष्ठ-३-४

(६७६)

मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण दक्षिण भारत में धार्मिक इतिहास या पुराणों के अनुसार तीर्थंकरों के कल्याणक आदि महत्त्वपूर्ण स्थान न होने के कारण उत्तर भारत के धार्मिक यात्रियों को दक्षिण भारत आने के लिए आकर्षण पैदा करना भी हो सकता है। पृष्ठ-४

(६७७)

जिसने इस विशाल मूर्ति का निर्माण कराया है, उसके हृदय में यह भावना भी अवश्य रही होगी कि ऐसे आश्चर्यकारी जिनबिम्ब की स्थापना की जावे कि जो हिमालय की तलहटी तक अपना आकर्षण बिखेर सके। मूर्ति के उत्तराभिमुख होने से भी इस बात की पुष्टि होती है। पृष्ठ-५

(६७८)

इतनी आकर्षक मूर्तियाँ बहुत कम होती हैं जो अपने आकर्षण से मूर्तिमान को भी भुला दें। बाहुबली का विशाल जिनबिम्ब ऐसा ही है कि लोग दर्शन करते समय मूर्ति के ही गीत गाते दिखाई देते हैं, मूर्तिमान की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। पृष्ठ-५

(६७९)

सामान्य मूर्तियाँ तो मूर्तिमान की याद कराने वाली होती हैं, पर यह तो ऐसी अद्वितीय मूर्ति है जो दर्शक को इतनी अभिभूत कर देती है कि वह स्वयं को तो भूल ही जाता है, मूर्तिमान को भी भूल जाता है। पृष्ठ-६

(६८०)

भू-स्वामित्व को हार कर तो सभी को छोड़ना पड़ता है, पर बाहुबली ने इसे जीतकर छोड़ा था। जीतकर छोड़ देने में जो सौन्दर्य और निस्पृहता प्रस्फुटित होती है, वह हारकर छोड़ने में कहाँ दिखाई देती है? बाहुबली का त्याग अप्राप्ति की मजबूरी नहीं, अपितु प्राप्ति का परित्याग था, विरक्तता का परिणाम था। बाहुबली की क्षमा 'मजबूरी में महात्मा गाँधी' का नाम नहीं थी, अपितु 'वीर का आभूषण' थी। पृष्ठ-७

(६८१)

यह विशाल मूर्ति मात्र बाहुओं के असीम बलधारी की नहीं है, अपितु असीम आत्मबलधारी की है। बाहुबली के बाहुओं का बल तो चक्रवर्ती भरत के साथ युद्ध में तब प्रदर्शित हुआ था, जब वे पोदनपुर के राजा थे। पर यह मूर्ति पोदनपुर के महाराजा की नहीं, परम तपस्वी मुनिराज बाहुबली की है, जिसमें उनके अजेय तपोबल का धीरोदात्तरूप प्रस्फुटित हुआ है। उन जैसा स्वाभिमानी और दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व इतिहास में तो बहुत दूर, पुराणों के पृष्ठों में भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसा त्यागी, ऐसा तपस्वी, ऐसा निस्पृही, ऐसा दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व कि जिसने पीछे मुड़कर देखना सीखा ही न हो, जो जब युद्ध में जमा तो जमा ही रहा और विजयश्री का वरण करके ही दम ली तथा जब अपने में जमा, अपने में रमा, तो ऐसा जमा, ऐसा रमा कि बाहर की ओर देखा ही नहीं; कर्म-शत्रुओं का नाश कर अनन्तचतुष्ट्यरूप लक्ष्मी का वरण कर इस युग में सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त की। पृष्ठ-८

(६८२)

आज करोड़ों आँखें जिसके प्रतिबिम्ब को आश्चर्य से निहार रही हैं, उसने जब एक बार आँख बन्द की तो आज तक खोली ही नहीं। वे आँख रहते हुए, उसे बिना खोले ही सब कुछ देखने-जानने लगे- तो कुछ काल के बाद अपनी

निरर्थकता जान आँख ही क्या, आँखों का आधार देह भी चली गई और वे विदेह हो गये। पृष्ठ-९

(६८३)

विन्ध्यगिरि पर स्थित लता-गुल्मों से आवेष्टित इस विराट दिगम्बर जिनबिम्ब की स्थापना का एक उद्देश्य शिथिलाचारी दिगम्बरों के समक्ष दिगम्बर-साधुता का एक कठोररूप प्रस्तुत करना भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि उस समय शिथिलाचार आरंभ हो गया था। पृष्ठ-९

(६८४)

एक गृहस्थ यदि मुनिराजों को कुछ कहना चाहे तो उसके लिए इससे सुन्दर रूप और कौन हो सकता था? अन्यथा उसने चौबीस तीर्थंकरों की तथा अरहंत अवस्था की मूर्ति क्यों नहीं स्थापित की? लगता है मुनियों के सामने आदर्श उपस्थित करने के लिए मुनि अवस्था की मूर्ति बनाई गई, क्योंकि अरहंत की मूर्ति को तो बेलों से आवेष्टित किया नहीं जा सकता था। पूर्वपरम्परा से हटकर मुनिराज बाहुबली की बेलों से आवेष्टित मूर्ति की स्थापना में कोई विशेष कारण अवश्य होना चाहिए। पृष्ठ-१०

(६८५)

छह खण्ड भरत के सामने नहीं, भरत चक्रवर्ती के सामने झुके थे और बाहुबली से भरत चक्रवर्ती नहीं, सिर्फ भरत लड़ रहे थे। पृष्ठ-१३

(६८६)

क्यों न दोनों भाइयों को आपस में मिला दिया जाय। जब उनकी आँख से आँख मिलेगी तो सब द्वेष गल जायेगा, स्नेह उमड़ पड़ेगा और समस्या का सहज समाधान हो जायेगा। नेत्रयुद्ध और कुछ नहीं था, मात्र दोनों की आँख से आँख मिलाने का उपक्रम था।

जिसके हृदय में अपराध भावना होती है, उसकी आँख नीची हुए बिना नहीं रहती। भरत की आँखें नीची इसलिए नहीं हुई कि वे कमजोर थीं, क्योंकि चक्रवर्ती की आँख सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न होती है, अपितु इसलिए नीची

हुई कि उनके मन में यह अपराध भावना काम कर रही थी कि मैं बाहुबली से वह भूमि छीनना चाहता हूँ, जो उन्हें पिताश्री ऋषभदेव ने दी थी।

पृष्ठ-१४

(६८७)

जब बात नहीं बनी तो मंत्रियों ने सोचा दोनों गर्मी में हैं, क्रोध में, मान में बेहोश हैं। बेहोश लोगों के मुँह पर पानी के छींटे मारने पर वे होश में आ जाते हैं; इस विचार से ही उन्होंने जलयुद्ध नहीं, जलक्रीड़ा-प्रतियोगिता रखी कि पानी में जाने से दोनों ठण्डे पड़ेंगे तथा छींटें पड़ने से होश में आवेंगे तो युद्ध मिलन में बदल जावेगा। पर यहाँ भी सफलता नहीं मिली और भिड़ने की बारी आई अर्थात् मल्लयुद्ध हुआ।

दोनों की रगों में एक पिता का खून बह रहा है, जब वह आपस में आलिंगित होगा तो अपना कमाल दिखाये बिना रहेगा ही नहीं; यह विश्वास था दोनों ओर के मंत्रियों का और वह सफल भी हो गया। बाहुबली का द्वेष राग में बदल गया। उन्होंने भरत को हाथों पर ऊपर उठा लिया पर नीचे पटका नहीं; चाहते तो पटक सकते थे, उन्हें चित्त कर सकते थे; पर अब जीतने का भाव नहीं रहा था, भाई के प्रति, पूज्य भाई के प्रति विनय का भाव जागृत हो गया था; अतः उन्हें कंधे पर बिठा लिया। उन्हें हराया नहीं, अपितु लड़ाई बिना फैसले के ही समाप्त कर दी। क्योंकि जो जीतना चाहता था, बाहुबली का वह मान गल गया था।

पृष्ठ-१५

(६८८)

बाहुबली का द्वेष जो भरत के स्पर्श से राग में बदल गया था - इस घटना से वह राग वैराग्य में बदल गया। इस तरह द्वेष राग में और राग वैराग्य में परिणमित हो गया।

पृष्ठ-१६



जिनेन्द्र वन्दना

आतम बने परमातमा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

आत्मा ही है शरण

विदेशों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता

(६८९)

मनुष्य और पशुओं में मूलभूत अन्तर यही है कि मनुष्य को पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपने माँ-बाप से कुछ-न-कुछ अवश्य उपलब्ध होता है, जबकि पशु इस उपलब्धि से वंचित ही रहते हैं। हम सबको भी अपने माँ-बाप से भौतिक सम्पत्ति के साथ-साथ नैतिक संस्कार और सामान्य तत्त्वज्ञान की भी उपलब्धि हुई है; णमोकार मंत्र, पंचपरमेष्ठी की उपासना और सात्त्विक निरामिष जीवन मिला है।

पृष्ठ-५

(६९०)

विज्ञान के बढ़ते प्रभाव ने धार्मिक आस्थाओं पर गहरी चोट की है और होटल संस्कृति के विकास ने शाकाहार पर कुठाराघात किया है। जीवनोपयोगी सन्तुलित आहार के बहाने खान-पान की शुद्धता समाप्त होती जा रही है।

आज का आदमी प्रत्येक बात को विज्ञान की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करना चाहता है और आहार की चर्चा स्वास्थ्य के आधार पर करता है। जबतक हम अपनी धार्मिक आस्थाओं को विज्ञान की कसौटी पर कसकर प्रस्तुत नहीं करेंगे और शाकाहार को स्वास्थ्यकर सिद्ध नहीं कर सकेंगे, तबतक सफलता प्राप्त होना संभव नहीं है।

यह समस्या मात्र हमारी ही नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शनों के सभी प्रचारकों की है।

पृष्ठ-१२

(६९१)

सत्यनारायण की कथा में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति सत्यनारायण की उपासना करता है; वह सुखी रहता है, समृद्धि उसके चरण चूमती है और जो व्यक्ति सत्यनारायण की उपासना नहीं करता है, उसे समृद्धि और सुख की प्राप्ति संभव नहीं है।

पृष्ठ-१३

(६९२)

हाँ, यह बात अवश्य है कि — जो व्यक्ति जीवन में सत्य को अपनाएगा, वह सुखी होगा, समृद्ध होगा और जो व्यक्ति सत्यधर्म को भूल जाएगा, सत्यधर्म (प्रामाणिक व्यवहार) की उपेक्षा करेगा, वह समृद्धि नहीं पा सकता।

पृष्ठ-१३

(६९३)

सत्य के आधार पर व्यापार करना ही व्यापारी की सत्यनारायण की पूजा है। सत्यनारायण की पूजा चारों वर्णों के व्यक्तियों ने की। इसका भी यह रहस्य है कि सत्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी उपासना चारों वर्णों को समान रूप से करनी चाहिए।

भाई, हम सत्यधर्म को भूल गए हैं और सत्यनारायण की पूजा पीढ़ियों से करते आ रहे हैं। वस्तुतः सत्य ही नारायण है, वही उपास्य है, आराध्य है।

पृष्ठ-१४

(६९४)

जिसने जीवन में सत्य को अपनाया, जो व्यवहार में प्रामाणिक रहा, वह लाखों घड़ियाँ मनमानी कीमत पर बेच लेता है और जो सत्य पर कायम नहीं रहता, उसे शुद्ध घी बेचने में भी पसीना छूटता है।

सत्य की उपासना ही समृद्धि का कारण है — यही सन्देश है सत्यनारायण की कथा का, जिसे हमने भुला दिया है। सत्य (प्रमाणिकता) को जीवन में अपनाकर अनार्य देश समृद्ध होते जा रहे हैं और हम झांझ-मंजीरे से सत्यनारायण की पूजन करने में ही मग्न हैं।

सत्यधर्म को जीवन में अपनाने की प्रेरणा देने वाली यह कथा सचमुच ही महान है।

पृष्ठ-१४

(६९५)

मन्दिर के गूढ़ गर्भगृह में, न जहाँ पर्याप्त प्रकाश रहता, न आर-पार वायु का विचरण; दर्शनार्थ जानेवालों को दीपक ले जाना आवश्यक ही नहीं,

अनिवार्य है तथा कीटाणुओं के शोधन के लिए धूप जलाना भी आवश्यक है। गर्भगृह की वायुशुद्धि के लिए धूप एवं पर्याप्त प्रकाश के लिए किये गये दीपक पूजा के विधान को अवैज्ञानिक कैसे कहा जा सकता है? पृष्ठ-१५

(६९६)

हमारी उपासना की हर क्रिया के पीछे वैज्ञानिक कारण विद्यमान है। कोरा क्रियाकाण्ड कहकर हँसी उड़ाने की अपेक्षा उसकी गहराई में जाना आवश्यक है। पृष्ठ-१६

(६९७)

मांसाहारी लोग शाकाहारी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारियों का नहीं। कुत्ते और शेर का मांस कौन खाता है? कटने को तो बेचारी शुद्ध शाकाहारी गाय-बकरी ही हैं। जिन पशुओं के मांस को आप शक्ति का भण्डार माने बैठे हैं, उन पशुओं में वह शक्ति कहाँ से आई है? — यह भी विचार किया है कभी? पृष्ठ-१७

(६९८)

शाकाहारी पशु सामाजिक प्राणी हैं, वे मिलजुल कर झुण्डों में रहते हैं, मांसाहारी झुण्डों में नहीं रहते। एक कुत्ते को देखकर दूसरा कुत्ता भौंकता ही है। शाकाहारी पशुओं के समान मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है, उसे मिलजुल कर ही रहना है, मिलजुल कर रहने से ही सम्पूर्ण मानव जाति का भला है। मांसाहारी शेरों की नस्लें समाप्त होती जा रही हैं, उनकी नस्लों की सुरक्षा करनी पड़ रही है; पर शाकाहारी पशु हजारों की संख्या में मारे जाने पर भी समाप्त नहीं हो पाते। शाकाहारियों में जबरदस्त जीवन-शक्ति होती है।

मनुष्य के दाँतों और आँतों की रचना शाकाहारी प्राणियों के समान है, मांसाहारियों के समान नहीं। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही है। मनुष्य स्वभाव से दयालु प्रकृति का प्राणी है। यदि उसे स्वयं मारकर मांस खाना पड़े तो १० प्रतिशत लोग भी मांसाहारी नहीं रहेंगे। जो मांस खाते हैं, यदि उन्हें वे बूचड़खाने दिखा दिए जायें, जिनमें निर्दयतापूर्वक पशुओं को काटा जाता है तो वे जीवनभर मांस छुयेंगे भी नहीं। मांस के वृहद् उद्योगों ने मांसाहार को

बढ़ावा दिया है। यदि टी.वी. पर कत्लखाने के दृश्य दिखाए जावें तो मांस की बिक्री आधी भी न रहे।

मांसाहारी पशु दिन में आराम करते हैं और रात में खाना खोंजते हैं, शिकार करते हैं; पर शाकाहारी दिन में खाते हैं और रात में आराम करते हैं। जब शाकाहारी पशुओं के भी सहज ही रात्रिभोजन त्याग होता है तो फिर मनुष्य का रात्रि में भोजन कहाँ तक उचित है? पृष्ठ-१७-१८

(६९९)

जैनाचार एवं जैन-विचार प्रकृति के अनुकूल हैं, पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, आवश्यकता उन्हें सही एवं सशक्त रूप में प्रस्तुत करने की है। पृष्ठ-२०

(७००)

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलने वाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना? — इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा। पृष्ठ-२६-२७

(७०१)

विज्ञान की इस दौड़ को पीछे ढकेलना संभव नहीं है, इसकी आवश्यकता भी नहीं है; आवश्यकता इसके सदुपयोग की है, जो धर्म के मार्गदर्शन बिना संभव नहीं है। पृष्ठ-२७

अनिवार्य है तथा कीटाणुओं के शोधन के लिए धूप जलाना भी आवश्यक है। गर्भगृह की वायुशुद्धि के लिए धूप एवं पर्याप्त प्रकाश के लिए किये गये दीपक पूजा के विधान को अवैज्ञानिक कैसे कहा जा सकता है? पृष्ठ-१५

(६९६)

हमारी उपासना की हर क्रिया के पीछे वैज्ञानिक कारण विद्यमान है। कोरा क्रियाकाण्ड कहकर हँसी उड़ाने की अपेक्षा उसकी गहराई में जाना आवश्यक है। पृष्ठ-१६

(६९७)

मांसाहारी लोग शाकाहारी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारियों का नहीं। कुत्ते और शेर का मांस कौन खाता है? कटने को तो बेचारी शुद्ध शाकाहारी गाय-बकरी ही हैं। जिन पशुओं के मांस को आप शक्ति का भण्डार माने बैठे हैं, उन पशुओं में वह शक्ति कहाँ से आई है? — यह भी विचार किया है कभी? पृष्ठ-१७

(६९८)

शाकाहारी पशु सामाजिक प्राणी हैं, वे मिलजुल कर झुण्डों में रहते हैं, मांसाहारी झुण्डों में नहीं रहते। एक कुत्ते को देखकर दूसरा कुत्ता भौंकता ही है। शाकाहारी पशुओं के समान मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है, उसे मिलजुल कर ही रहना है, मिलजुल कर रहने से ही सम्पूर्ण मानव जाति का भला है। मांसाहारी शेरों की नस्लें समाप्त होती जा रही हैं, उनकी नस्लों की सुरक्षा करनी पड़ रही है; पर शाकाहारी पशु हजारों की संख्या में मारे जाने पर भी समाप्त नहीं हो पाते। शाकाहारियों में जबरदस्त जीवन-शक्ति होती है।

मनुष्य के दाँतों और आँतों की रचना शाकाहारी प्राणियों के समान है, मांसाहारियों के समान नहीं। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही है। मनुष्य स्वभाव से दयालु प्रकृति का प्राणी है। यदि उसे स्वयं मारकर मांस खाना पड़े तो १० प्रतिशत लोग भी मांसाहारी नहीं रहेंगे। जो मांस खाते हैं, यदि उन्हें वे बूचड़खाने दिखा दिए जायें, जिनमें निर्दयतापूर्वक पशुओं को काटा जाता है तो वे जीवनभर मांस छुयेंगे भी नहीं। मांस के वृहद् उद्योगों ने मांसाहार को

बढ़ावा दिया है। यदि टी.वी. पर कत्लखाने के दृश्य दिखाए जावें तो मांस की बिक्री आधी भी न रहे।

मांसाहारी पशु दिन में आराम करते हैं और रात में खाना खोजते हैं, शिकार करते हैं; पर शाकाहारी दिन में खाते हैं और रात में आराम करते हैं। जब शाकाहारी पशुओं के भी सहज ही रात्रिभोजन त्याग होता है तो फिर मनुष्य का रात्रि में भोजन कहाँ तक उचित है? पृष्ठ-१७-१८

(६९९)

जैनाचार एवं जैन-विचार प्रकृति के अनुकूल हैं, पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, आवश्यकता उन्हें सही एवं सशक्त रूप में प्रस्तुत करने की है। पृष्ठ-२०

(७००)

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलने वाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना? — इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा। पृष्ठ-२६-२७

(७०१)

विज्ञान की इस दौड़ को पीछे ढकेलना संभव नहीं है, इसकी आवश्यकता भी नहीं है; आवश्यकता इसके सदुपयोग की है, जो धर्म के मार्गदर्शन बिना संभव नहीं है। पृष्ठ-२७

सुखी होने का सच्चा उपाय

(७०२)

निःस्वार्थभाव और पवित्र हृदय से सही दिशा में किया गया सतत प्रयास कभी असफल नहीं होता। पृष्ठ-२९

(७०३)

सफलता उत्साह को बढ़ाती है और असफलता उत्साह को भंग करती है। सफलता के संगम से अन्तर की सतत् प्रेरणा जब उल्लसित हो उठती है तो सही दिशा में किए गए सत्प्रयासों में एक अद्भुत गति आ जाती है।

पृष्ठ-२९

(७०४)

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं भगवान हैं। स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही, यदि सम्यक्पुरुषार्थ करें अर्थात् अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जावें, रम जावें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं। पृष्ठ-३१

(७०५)

कुछ लोग कहते हैं कि हमें मोक्ष में भी नहीं जाना है, हमें तो कोई ऐसा रास्ता बताओ, जिससे इस संसार में रहते हुए ही सुखी हो जावें। पर भाई, ऐसा रास्ता है ही नहीं, तो क्या बताया जाय ? यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि बड़े लोग इस संसार को क्यों छोड़ते पृष्ठ-३२

(७०६)

भाई ! मोक्ष में नहीं जाना है — ऐसा क्यों कहते हो ? जैनधर्म तो मोक्षमार्ग का ही दूसरा नाम है। जैनधर्म के सबसे बड़े शास्त्र का नाम ही मोक्षशास्त्र है, जिसे जैनियों के सभी सम्प्रदाय एक स्वर से स्वीकार करते हैं; जिसे जैनियों की बाइबिल कहा जाता है, जैनियों की गीता कहा जाता है, जैनियों का कुरान कहा जाता है; ऐसे इस महाशास्त्र के पहले सूत्र में ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है।

पृष्ठ-३२

(७०७)

भाई ! मोक्ष तो मुक्ति को कहते हैं, दुःखों से छूटने को कहते हैं। सम्पूर्ण सुखी होने का नाम ही मोक्ष है, सच्चे सुख की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। ऐसा जगत में कौन-सा प्राणी है, जो दुःखों से मुक्त नहीं होना चाहता, सुखी नहीं होना चाहता ?

पृष्ठ-३२-३३

(७०८)

भाई ! दुःख से मुक्त होना, सुखी होना, मोक्ष प्राप्त करना और भगवान बनना — इन चारों का एक ही अर्थ है। पर जब यह कहा जाता है कि दुःख से बचना है, सुखी होना है, तो सभी हाँ करते हैं, पर भगवान बनने या मोक्ष में जाने की बात करते हैं तो लोगों को बड़ी बात लगती है।

पृष्ठ-३३

(७०९)

हम देखते हैं कि हमारा चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना, निबटना आदि सभी दुःख दूर करने और सुखी होने के लिए ही होते हैं। गहराई से विचार करें तो हमारी छोटी से छोटी क्रिया भी इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होती है। जब हम एक आसन से बैठे-बैठे थक जाते हैं तो चुपचाप आसन बदल लेते हैं और हमारा ध्यान इस क्रिया की ओर जाता ही नहीं है। हम यह समझते ही नहीं हैं कि अभी हमने दुःख दूर करने के लिए कोई प्रयत्न किया है; पर हमारा यह छोटा-सा प्रयत्न भी दुःख दूर करने के लिए ही होता है।

पृष्ठ-३५

(७१०)

जिसप्रकार मार्फिया के इन्जेक्शन की उपयोगिता ऑपरेशन की तैयारी में संलग्न होने में ही है, उसीप्रकार भूख-प्यास लगने पर शुद्ध-सात्विक भोजन कर लेने से जो सीमित निराकुलता प्राप्त होती है, उस निराकुलता के समय में इन दुःखों के मेटने के स्थाई इलाज की शोध-खोज में लगना ही भोजनादि लेने की सच्ची उपयोगिता है।

पृष्ठ-३८

(७११)

समस्त सांसारिक दु:खों को दूर करने के इलाज का नाम ही जैनधर्म है, मोक्षमार्ग है तथा वीतरागी परमात्मा और उनके मार्गानुसार चलनेवाले संत ज्ञानीजन ही सच्चे डॉक्टर हैं। पृष्ठ-३९

(७१२)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अनादिकालीन अनंत दु:ख को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अत: हमें इन्हें समझने में पूरी शक्ति लगानी चाहिए, इन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुट जाना चाहिए।

पृष्ठ-३९

(७१३)

अपने को पहिचानना, जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही जम जाना, रम जाना सम्यक्चारित्र है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है।

पृष्ठ-४०

(७१४)

इनमें ज्ञान गुण का कार्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, श्रद्धा गुण का कार्य अपने और पराये की पहिचान कर अपने में अपनापन स्थापित करना है।

पृष्ठ-४०

(७१५)

पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन है, निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में ही जमना-रमना सम्यक्-चरित्र है। पृष्ठ-४१

(७१६)

आज तक इस आत्मा ने देहादि पर-पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है। अत: उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णत: समर्पित है। निज भगवान आत्मा में एक क्षण को भी अपनापन नहीं आया है; यही कारण है कि उसकी अनन्त उपेक्षा हो

रही है। देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित हैं और भगवान आत्मा के लिए हमारे पास सही मायनों में एक क्षण भी नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त उपेक्षा का शिकार होकर सौतेला बेटा बनकर रह गया है। पृष्ठ-४३

(७१७)

सर्वस्व समर्पण के बिना आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन संभव नहीं है। यदि हमें आत्मदर्शन करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो देह के प्रति एकत्व तोड़ना ही होगा, आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही होगा। पृष्ठ-४४

(७१८)

इस देह की अपवित्रता की बात कहाँ तक कहें? इसके संयोग में जो भी वस्तु एक पल भर के लिए ही क्यों न आये, वह भी मलिन हो जाती है, मल-मूत्रमय हो जाती है, दुर्गन्धमय हो जाती है। सब पदार्थों को पवित्र कर देनेवाला जल भी इसका संयोग पाकर अपवित्र हो जाता है। कुएँ के प्रासुक जल और अठपहरे शुद्ध घी में मर्यादित आटे से बना हलुआ भी क्षण भर को पेट में चला जावे और तत्काल वमन हो जावे तो उसे कोई देखना भी पसंद नहीं करता। ऐसी अपवित्र है यह देह और इसमें रहने वाला भगवान आत्मा परम पवित्र पदार्थ है। पृष्ठ-४५

(७१९)

यह परम पवित्र भगवान आत्मा आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, शान्ति का सागर, गुणों का गोदाम और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। पृष्ठ-४५

(७२०)

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है। पृष्ठ-४६

(७२१)

मातायें बहुत अच्छी होती हैं। होती होंगी, पर मात्र अपने बच्चों के लिए, पराये बच्चों के साथ उनका व्यवहार देखकर तो शर्म से माथा झुक जाता है। यह सभी माताओं की बात नहीं है, पर जो ऐसी हैं, उन्हें अपने व्यवहार पर एक बार अवश्य विचार करना चाहिए। पृष्ठ-४८

(७२२)

अपना होने से क्या होता है ? जबतक अपनापन न हो, तबतक अपने होने का कोई लाभ नहीं मिलता। यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपनापन है। पृष्ठ-४९

(७२३)

यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है। पृष्ठ-५०

(७२४)

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणायें भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं। इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है। पृष्ठ-५०

(७२५)

इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दुःखों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। पृष्ठ-५१

आत्मा ही परमात्मा है

(७२६)

ज्ञान सर्वसमाधान कारक है, उसका सर्वत्र ही अबाध प्रवेश है। वस्तुविज्ञान का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है, जहाँ ज्ञान का प्रवेश न हो? आज जगत में जो भी वैज्ञानिक चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब ज्ञान के ही कमाल हैं। यदि यही ज्ञान निज भगवान आत्मा में समर्पित हो जावे, उसकी ही शोध-खोज में लग जावे तो इससे भी अधिक चमत्कृत करेगा। पृष्ठ-६३

(७२७)

जड़पदार्थों में लगे इस परोन्मुखी ज्ञान ने दैनिक-जीवन के लिए सुविधायें तो भरपूर जुटा दीं, पर वह सुख और शान्ति नहीं जुटा सका। यदि हमें सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करनी है तो जड़पदार्थों की शोध-खोज में संलग्न अपने इस ज्ञान को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा की शोध-खोज में लगाना होगा। पृष्ठ-६३

(७२८)

ध्यान करने योग्य तो एकमात्र परमपदार्थ निज भगवान आत्मा ही है। आजतक जितने भी जीवों ने अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त किया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारण किया है, सिद्धदशा को प्राप्त किया है; उन सभी ने यह सब निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही प्राप्त किया है। अत: ध्यान करने के पूर्व हमें परमध्येयरूप निज भगवान आत्मा का स्वरूप भली-भाँति समझना चाहिए; क्योंकि ध्येय का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना ध्यान संभव नहीं है।

पृष्ठ-६४-६५

(७२९)

हमारे ऋषियों-मुनियों ने, वीतरागी सन्तों ने, तीर्थंकरों ने तो घरबार छोड़कर गहन वनों में पर्वतों की चोटियों पर जाकर एकान्त में ध्यान किया था और हम वातानुकूलित सभागारों में डनलप की नरम-नरम कुर्सियों पर सपत्नीक बैठकर हजारों व्यक्तियों की भीड़ में किसी के निर्देश सुनते हुए ध्यान करना चाहते हैं। क्या हो गया है हमें और हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये हैं ?

पृष्ठ-६५

(७३०)

हमारे सभी तीर्थंकरों और वीतरागी सन्तों ने ध्यान के लिए गहन जंगलों और पर्वतों की चोटियों को ही चुना, उन्होंने अपना सम्पूर्ण साधु-जीवन गहन वनों और पर्वतों के उच्चतम शिखरों पर ही बिताया। जहाँ वे रहे, वही स्थान हमारे तीर्थ बन गये। पृष्ठ-६५

(७३१)

भाई ध्यान एकान्त में ही होता है, भीड़-भाड़ में नहीं। सम्मेदशिखर पर तीर्थंकरों के निर्माणस्थलों (टोकों) को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि वे ऐसे उच्चतम शिखर हैं कि जिनपर दो आदमी भी एकसाथ ढंग से बैठ भी नहीं सकते। इससे प्रतीत होता है कि वे ऐसे स्थान पर नहीं बैठना चाहते कि जहाँ बगल में आकर कोई और बैठ जाय। यदि अगल-बगल में कोई बैठा होगा तो उससे वार्तालाप का प्रसंग बन सकता है। जहाँ अनेक आदमी आस-पास होंगे तो बातें तो होंगी ही। यही कारण है कि उन्होंने ऐसा स्थान चुना कि दूसरा व्यक्ति पास में बैठ ही न सके। पृष्ठ-६६

(७३२)

इसीप्रकार गर्मियों में भरी दोपहरी में भयंकर धूप में बैठकर ध्यान भी वे इसलिए करते थे कि इतनी धूप में वहाँ आदमी तो क्या पशु-पक्षी भी आस-पास नहीं आयेगा तो उनका आत्मध्यान भी निर्विघ्न होगा। पृष्ठ-६६

(७३३)

त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा के दर्शन-ज्ञान पूर्वक जो ध्यान होता है; वह सहज होता है, उसमें अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती, पर जो ध्यान आत्मदर्शन-ज्ञान बिना मात्र बाहरी अभ्यास से किया जाता है, एक तो वह वास्तविक ध्यान होता ही नहीं, दूसरे उसमें बाहरी क्रिया भी निर्दोष नहीं हो सकती। पृष्ठ-६७

(७३४)

आत्मध्यान करने के पूर्व उस आत्मा का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है, जिसका ध्यान करना है, जो ध्येय है। रंग, राग और भेद से भिन्न

ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा ही एकमात्र ध्येय है, ध्यान करने योग्य है। अत: सबसे पहले हमें आध्यात्मिक शास्त्रों के स्वाध्याय एवं आत्मज्ञानी गुरुओं के सहयोग से, सदुपदेश से निज भगवान आत्मा का स्वरूप गहराई से समझना चाहिए। पृष्ठ-६७-६८

(७३५)

भाई ! भगवान भी दो तरह के होते हैं — एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन-भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा हैं, भगवान हैं, इन्हें कारणपरमात्मा कहा जाता है। पृष्ठ-७४

(७३६)

जो भगवान मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में विराजमान हैं; वे हमारे पूज्य हैं, परमपूज्य हैं; अत: हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, गुणानुवाद करते हैं; किन्तु देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है; अत: निज भगवान को जानना, पहिचानना और उसका ध्यान करना ही उसकी आराधना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इस निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। पृष्ठ-७४

(७३७)

यदि कोई व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए ध्यान भी मन्दिर में विराजमान भगवान का ही करता रहे तो उसे भी विकल्पों की ही उत्पत्ति होती रहेगी, निर्विकल्प आत्मानुभूति कभी नहीं होगी; क्योंकि निर्विकल्प आत्मानुभूति निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी नहीं होगी। — इसप्रकार उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का आरम्भ ही नहीं होगा।

पृष्ठ-७५

(७३८)

प्रश्न : यदि यह बात है तो फिर ये ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा वर्तमान में अनन्त दुःखी क्यों दिखाई दे रहे हैं ?

उत्तर : अरे भाई, ये सब भूले हुए भगवान हैं, स्वयं को — स्वयं की सामर्थ्य को भूल गये हैं; इसीकारण सुखस्वभावी होकर भी अनन्तदुःखी हो रहे हैं। इनके दुःख का मूल कारण स्वयं को नहीं जानना, नहीं पहिचानना ही है। पृष्ठ-७६

(७३९)

होने से भी अधिक महत्त्व जानकारी होने का है, ज्ञान होने का है। होने से क्या होता है? होने को तो यह आत्मा अनादि से ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न होने से, ज्ञान न होने से ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है। पृष्ठ-७७

(७४०)

प्रतीति बिना, विश्वास बिना जान लेने मात्र से भी कोई लाभ नहीं होता। अतः ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है। पृष्ठ-७८

(७४१)

शास्त्रों में से पढ़-पढ़कर हम स्वयं अपने साथियों को भी सुनाते हैं। कहते हैं — 'देखो हम सभी स्वयं भगवान हैं, दीन-हीन मनुष्य नहीं।' — इसप्रकार की आध्यात्मिक चर्चाओं द्वारा हम स्वयं का और समाज का मनोरंजन तो करते हैं, पर सम्यक्श्रद्धान के अभाव में भगवान होने का सही लाभ प्राप्त नहीं होता, आत्मानुभूति नहीं होती, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, आकुलता समाप्त नहीं होती। पृष्ठ-७९

(७४२)

आत्मन् ! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत पर

से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-वहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे। पृष्ठ-८२

(७४३)

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है। — ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होनेपर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख। पृष्ठ-८३

(७४४)

जब किसी व्यक्ति को आत्मानुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो जाता है, जब उसके आचरण में भी अन्तर आ ही जाता है। यह बात अलग है कि वह तत्काल पूर्ण संयमी या देश संयमी नहीं हो जाता, फिर भी उसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य एवं मिथ्यात्व पोषक क्रियाएँ नहीं रहती हैं। उसका जीवन शुद्ध सात्विक हो जाता है, उससे हीन काम नहीं होते। पृष्ठ-८५

(७४५)

किसी व्यक्ति को आत्मानुभव होता है तो उसके अन्तर की हीन भावना तो समाप्त हो ही जाती है, पर सातिशय पुण्य के प्रताप से लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, लोक भी उसके सद्व्यवहार से प्रभावित होता है। ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पृष्ठ-८६

(७४६)

जीवन तो सम्यक्चारित्र होने पर बदलेगा, अभी तो असंयमरूप व्यवहार ही ज्ञानी धर्मात्मा के देखा जाता है, पर उनके चित्त में रंचमात्र भी हीन भावना नहीं रहती, वे स्वयं को भगवान ही अनुभव करते हैं। पृष्ठ-८६

(७४७)

श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में, संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है। पृष्ठ-८७

(७४८)

अरे भाई ! जैनदर्शन के इस अद्‌भुत परमसत्य को एकबार अन्तर की गहराई से स्वीकार तो करो कि स्वभाव से हम सभी भगवान ही हैं। पर और पर्याय से अपनापन तोड़कर एकबार द्रव्य-स्वभाव में अपनापन स्थापित तो करो, फिर देखना अन्तर में कैसी क्रान्ति होती है, कैसी अद्‌भुत और अपूर्व शान्ति उपलब्ध होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का कैसा झरना झरता है।

पृष्ठ-८७

जीवन-मरण और सुख-दुःख

(७४९)

जिन-अध्यात्म का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य वह परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन और जिसका ध्यान करने अर्थात् जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यक्‌चारित्र है। इसी परमपारिणामिक भावरूप भगवान आत्मा को 'ज्ञायकभाव' नाम से भी जाना जाता है।

पृष्ठ-९६

(७५०)

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार करली है कि यदि उसका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है। आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है। पृष्ठ-१०७

(७५१)

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्य पालन उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी वाइटिक्स) दवाओं को भी जीवन रक्षक दवाइयाँ कहता है। पृष्ठ-१०७

(७५२)

यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता ? हथियारों के प्रयोग से आज तक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है।

पृष्ठ-१०७

(७५३)

शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं, अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्रायः हथियारों से ही मारे जाते हैं। पृष्ठ-१०८

(७५४)

भाई ! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिंदु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयुपर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियाँ खाने वाले दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय हैं; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है। पृष्ठ-११०

(७५५)

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और यह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कारण मानना। इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ; सुखी-दु:खी कर सकता हूँ।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' — इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने अधीन करना चाहता है। इसीप्रकार 'मैं दूसरों को बचा सकता हूँ' — इस मान्यता के आधार पर भी दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। सुखी-दु:खी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं। पृष्ठ-१११

(७५६)

पर में हस्तक्षेप करने की कुत्सित भावना ही इसके मन को अशान्त करती है, आकुल-व्याकुल करती है, दीन-हीन बनाती है। पृष्ठ-१११

(७५७)

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है, किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता।

लोक में कहावत भी है कि 'कौओं के कोसने से ढोर (पशु) नहीं मरते'। यदि कौओं के कोसने से पशु मरने लग जावें तो जगत में एक भी पशु का बचना संभव नहीं है; क्योंकि लोक में कोसने वाले कौओं की कमी नहीं है। पृष्ठ-१११-११२

(७५८)

यदि आशीर्वाद से कुछ होने की बात होती तो किसी का भी कुछ भी अनिष्ट होने की संभावना ही समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बेटे को भरपूर आशीर्वाद देती ही है। पृष्ठ-११२

(७५९)

विवेक जागृत होते ही, श्रद्धा पलटते ही छात्र प्राध्यापकों के घर के चक्कर नहीं काटेंगे, पढ़ेंगे; लिपिक अधिकारियों की गुलामी नहीं करेंगे, काम करेंगे;

व्यापारी भी बेईमानी न करेंगे, ईमानदारी से व्यापार करेंगे और मुख्यमन्त्री दिल्ली में ही नहीं जमे रहेंगे, अपने प्रान्त में ही रहकर जनता की सेवा करेंगे; उनकी समस्यायें सुनेंगे, समझेंगे, सुलझायेंगे। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश का नक्शा बदल जायेगा। पृष्ठ-११४

(७६०)

राग-द्वेष कम करने का सरलतम उपाय अपने सुख-दु:ख का कारण अपने में ही खोजना है, मानना है, जानना है।

यह कैसे संभव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी कर दे। इसीप्रकार यह भी कैसे संभव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई दु:खी कर दे। यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जायेगा ? पृष्ठ-११७

(७६१)

यदि हम जीवनभर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप कर्मों के फल भोगने से बचाले, दु:खी न होने दे, सुखी करदे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों ? बस किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे; क्योंकि सुख-दु:ख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया। यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करने वाली होने से पाप ही है। पृष्ठ-११८

(७६२)

इसीप्रकार यदि हम जीवनभर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दु:खी करदे तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे, बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे। पृष्ठ-११८

(७६३)

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चितरूप से भोगना ही होगा। पृष्ठ-११८

(७६४)

यदि इस जगत में कोई ईश्वर है और वह पापियों के बड़े-बड़े पापों को भी, प्रार्थना करने मात्र से पापमुक्त कर देता है तो वह दयासागर भले ही कहला ले, पर न्याय नहीं कर सकता है, न्यायवान नहीं है, क्योंकि उसने अपराधी को दंड न देकर स्वयं की चापलूसी करने मात्र से अपराधमुक्त कर दिया, जो सरासर अन्याय है। पृष्ठ-११९

(७६५)

हमने किसी प्राणी को मारा या दुःखी किया तो क्षमा करने का अधिकार भी उसी का है, जिसे हमने कष्ट पहुँचाया है। उसे संतुष्ट किए बिना ईश्वर को किसी को भी क्षमा करने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हो गया ? यह क्रिया तो पापों को प्रोत्साहित करनेवाली हुई; क्योंकि फिर कोई पाप करने से डरेगा ही क्यों? उसके पास तो पापों के फल को बिना भोगे ही बचने का उपाय विद्यमान है। पृष्ठ-११९

(७६६)

सम्प्रदायों में विभक्त जैनत्व, जो आज साम्प्रदायिक सड़ाँध पैदा कर रहा है, कलह का कारण बन रहा है; यदि वह उन्मुक्त हो जावे तो अपनी पावनता को तो सहज उपलब्ध कर ही लेगा, अपनी पवित्रता की शक्ति से जैन समाज को ही नहीं, सम्पूर्ण दुनिया को प्रकाशित कर देगा, सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देगा। पृष्ठ-१२२

(७६७)

यदि हम अहिंसारूपी वीतरागी तत्त्वज्ञान को असीम जगत तक पहुँचाना चाहते हैं तो हमें इन छुद्र सीमाओं को भेदकर इनसे बाहर आकर महावीर वाणी के सार को जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य में जी-जान से जुट जाना चाहिए। यही सन्मार्ग है और इसी में हम सबका हित निहित है। पृष्ठ-१२३

(७६८)

सामाजिक एकता के लिए विशाल दृष्टिकोण से कार्य करना होगा और ऐसा समाधान खोजना होगा, जो संबंधित सभी व्यक्तियों को स्वीकार हो सके,

अन्यथा एकता संभव नहीं हो सकती। समझौता का रास्ता अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी होते हुए भी सहज व सरल नहीं होता; इसमें हमारी बुद्धि, क्षमता, सामाजिक पकड़, धैर्य सभी कसौटी पर चढ़ जाते हैं। फिर भी यदि दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाइयाँ समझें और सच्चे दिल से रास्ता खोजें तो मार्ग मिलता ही है।

एकबार एकसाथ मिलना-बैठना आरंभ हो जाए तो बहुत-सी समस्याएँ तो अपने-आप समाप्त हो जाती हैं। पृष्ठ-१३२

धूम क्रमबद्धपर्याय की

(७६९)

निज भगवान आत्मा के आश्रय से जीव सुखी होते हैं और निज भगवान आत्मा से भिन्न परपदार्थों के आश्रय से जीव दुःखी होते हैं; इसीलिए कहा जाता है कि स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है। पृष्ठ-१५२

(७७०)

'परद्रव्य के आश्रय' में आश्रय का आशय पर को निज जानने-मानने और उसी में जमने-रमने से है। पृष्ठ-१५२

(७७१)

प्रश्न — हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, पर वह भगवान आत्मा हमें प्राप्त क्यों नहीं होता ?

उत्तर — भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना प्रयत्न करना चाहिए, यदि वैसा और उतना प्रयत्न करें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान आत्मा की प्राप्ति की जैसी तड़फ पैदा होनी चाहिए, अभी हमें वैसी तड़फ ही पैदा नहीं हुई है। यदि अन्तर की गहराई से वैसी तड़फ पैदा हो जावे तो फिर भगवान आत्मा की प्राप्ति में देर ही न लगे। पृष्ठ-१५३

(७७२)

यदि जीवन की संध्या तक भगवान आत्मा नहीं मिला तो चार गति और चौरासी लाख योनियों के घने अंधकार में अनन्त काल तक भटकना होगा,

अनन्त दुःख भोगने होंगे। यदि हमें इसकी कल्पना होती तो हम यह बहुमूल्य मानव जीवन यों ही विषय-कषाय में बर्बाद नहीं कर रहे होते।

पृष्ठ-१५९-१६०

(७७३)

आत्मा का खोजी भी भूखा तो नहीं रहता, पर खाने-पीने में ही जीवन की सार्थकता उसे भासित नहीं होती। यद्यपि वह स्वास्थ्य के अनुरूप ही भोजन करेगा, पर अभक्ष्य भक्षण करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कमजोरी के कारण वह अनेक सुविधाओं के बीच भी रह सकता है, पर उसका ध्यान सदा आत्मा की ओर ही रहता है। खेलने-कूदने और मनोरंजन में मनुष्य भव खराब करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पृष्ठ-१६०-१६१

(७७४)

जीवन संध्या के पूर्व हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होना ही चाहिए — ऐसा दृढ़-संकल्प प्रत्येक आत्मार्थी का होना चाहिए; तभी कुछ हो सकता है।

पृष्ठ-१६१

(७७५)

आत्मार्थी को भी चाहिए कि वह परपदार्थों को जानते समय, उनके सम्बन्ध में व्यर्थ ही विकल्पों को लम्बा न करे। जिस प्रयोजन से उनका जानना बना है, उसकी सिद्धि होते ही तत्सम्बन्धी विकल्पों को विराम दे दे; किसी भी प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत परपदार्थ को जानकर उसे ही जानते रहना आत्मार्थी का लक्षण नहीं है। पृष्ठ-१६१-१६२

(७७६)

उसीप्रकार जब इस आत्मा की दृष्टि में निज भगवान आत्मा आता है, तब यह गुरु को या किसी अन्य को यह बताने नहीं दौड़ता कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया है, अपितु निज भगवान आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, अपने में ही समा जाता है, एकरूप हो जाता है, अभेद हो जाता है, विकल्पातीत हो जाता है।

पृष्ठ-१६३

(७७७)

आत्मा की खोज की प्रक्रिया में तो पूछताछ हो सकती है, होती भी है, होना भी चाहिए; पर आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर घोषणा की आवश्यकता नहीं होती, विज्ञापन की भी आवश्यकता नहीं होती। पृष्ठ-१६५

(७७८)

ज्ञानी धर्मात्माओं को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त है, वे तो उसी में मग्न रहते हैं, उसी में सन्तुष्ट रहते हैं; उसी में पूरी तरह तृप्त रहते हैं, उन्हें अन्य कोई वांछा नहीं रहती। वे इस बात के लिए लालायित नहीं रहते कि जगत उन्हें ज्ञानी समझे ही। पृष्ठ-१६६

(७७९)

ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फँसकर जीवन बर्बाद कर सकता है। तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही जीवन बर्बाद हो जाता है। अतः आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है ? आत्मोपलब्धि करने वाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला ? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें — यह तो न्याय नहीं है। अतः निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान-निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है। पृष्ठ-१६७

(७८०)

आत्मा की खोज करने वालों को भी विश्व को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। एक भाग में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा को रखें और दूसरे भाग में परद्रव्य अर्थात् अपने आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ रखे जावें। पृष्ठ-१६७

(७८१)

आत्मार्थी के लिए भी देखने-जानने योग्य तो सभी पदार्थ हैं, पर जमने-रमने योग्य निज भगवान आत्मा ही है, अपनापन स्थापित करने योग्य अपना आत्मा ही है, रति करने योग्य तो सुगति के कारणरूप स्वद्रव्य ही है।

पृष्ठ-१६८

आत्मा ही है शरण

(७८२)

व्यक्तिविशेष की महिमा से सम्प्रदाय पनपते हैं और गुणों की महिमा से धर्म की वृद्धि होती है। पृष्ठ-१८५

(७८३)

पंचपरमेष्ठी अनादि से होते आये हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे, अतः सार्वकालिक हैं; ढाई द्वीप में सर्वत्र ही होते हैं, अतः सार्वभौमिक हैं और जातिविशेष से सम्बन्धित न होने से सार्वजनिक भी हैं। पृष्ठ-१८६

(७८४)

पंचपरमेष्ठी का आराधक होने के कारण ही जैनदर्शन सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक है। पृष्ठ-१८६

(७८५)

जैनदर्शन के अनुसार निज भगवान आत्मा की साधना करने वाले ही साधु कहलाते हैं और साधुओं में ही जो वरिष्ठ होते हैं, उन्हें आचार्य और उपाध्याय पद प्राप्त होते हैं। आत्मा की साधना से पूर्णता को प्राप्त पुरुष ही अरिहंत और सिद्ध बनते हैं। इसप्रकार आत्मसाधक और अरिहंत व सिद्ध ही पंचपरमेष्ठी हैं, जिन्हें इस णमोकार महामंत्र में नमस्कार किया गया है। पृष्ठ-१८६

(७८६)

इस णमोकार महामंत्र की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी से कुछ माँग नहीं की गई है, इसमें भिखारीपन नहीं है; पूर्णतः निःस्वार्थभाव से पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है, उसके बदले में कुछ भी चाहा नहीं गया है। पृष्ठ-१८७

(७८७)

माँगने पर तो विष्णु भगवान को भी बाबनिया बनना पड़ा था, फिर औरों की तो बात ही क्या है ? ऐसी भारतीय संस्कृति में कि जिसमें माँगने को इतना हीन समझा गया हो; उसमें, जिसमें कुछ माँग प्रस्तुत न की गई हो, वह मंत्र महामंत्र बन गया तो आश्चर्य की बात क्या है ? पृष्ठ-१८८

(७८८)

जो व्यक्ति जिस समय इस महामंत्र का भावपूर्वक, समझपूर्वक स्मरण करता है, उसके हृदय में उस समय कोई पापभाव उत्पन्न ही नहीं होता, यही सब पापों का नाश होना है। पृष्ठ-१९०

(७८९)

प्रश्न : यदि 'उस समय पापभाव उत्पन्न नहीं होते' मात्र इतना ही आशय है तो फिर सब पापों के नाश की बात क्यों कही गई है ?

उत्तर : पाप अनेक प्रकार के हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। ये सभी पापभाव णमोकार मंत्र के स्मरण के काल में उत्पन्न नहीं होते — इसकारण ही 'सब' शब्द का प्रयोग है। यहाँ 'सब' शब्द का अर्थ वर्तमान में उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणाम ही हैं। इसमें भूतकाल में किए गये पापों से कोई तात्पर्य नहीं है। यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी द्रव्य-पाप एवं भाव-पाप मात्र णमोकार मंत्र के बोलने मात्र से नष्ट हो जाते होते तो फिर आत्मध्यानरूप तप की क्या आवश्यकता थी, उपशम श्रेणी-क्षपकश्रेणी माँडने की क्या आवश्यता थी ? सभी कर्मों का नाश णमोकार मंत्र के बोलने से ही हो जाता। पृष्ठ-१९०

(७९०)

मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु होना अनिवार्य है, अरहंत होना अनिवार्य है, सिद्ध होना भी अनिवार्य है, क्योंकि सिद्ध होना ही तो मुक्ति प्राप्त करना है, पर मुक्त होने के लिए आचार्य और उपाध्याय होना अनिवार्य नहीं है। यही

कारण है कि मंगल, उत्तम और शरण की चर्चा में उन्हें शामिल नहीं किया गया है। पृष्ठ-१९३

(७९१)

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब हैं क्या ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान-आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थायें हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं। सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना संभव होता है। पृष्ठ-१९५

(७९२)

मुक्तिरूपी कन्या उनका वरण नहीं करती है, जो उसका ध्यान धरते हैं, किन्तु उनका ही वरण करती है, जो निज भगवान आत्मा का ध्यान धरते हैं। वह आत्मा पर रींझने वालों पर ही रींझती है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति, मुक्ति का ध्यान धरने वालों को प्राप्त नहीं होती, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का ध्यान धरने वालों को ही प्राप्त होती है। पृष्ठ-२००

(७९३)

भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है। पृष्ठ-२०२

(७९४)

पर भगवान या पर्यायरूप भगवान की शरण में जाने-वाले भगवानदास बनते हैं, भगवान नहीं। यदि स्वयं ही पर्याय में भगवान बनना हो तो निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाना होगा। पृष्ठ-२०३

जैनभक्ति और ध्यान

(७९५)

जैनदर्शन में निःस्वार्थ भाव की भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं। जो व्यक्ति उनके बताये मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है। अतः जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है। पृष्ठ-२१३

(७९६)

जैनियों के भगवान तो वीतरागभाव से सहज ज्ञाता-दृष्टा होते हैं। वे जानते सबकुछ हैं, पर करते कुछ भी नहीं। उन्हें कुछ करने का विकल्प भी नहीं उठता, यदि कुछ करने का विकल्प उठे तो वे भगवान ही नहीं हैं।

पृष्ठ-२१५

(७९७)

गुणों में अनुराग तो निःस्वार्थभाव से ही होता है। सच्चे भक्त भी निः स्वार्थभाव से ही भक्ति करते हैं। निःस्वार्थभाव की भक्ति वैज्ञानिक और स्वाभाविक भी है। पृष्ठ-२१६

(७९८)

जैनियों के भगवान विषय-कषाय और उसकी पोषक सामग्री तो देते ही नहीं, वे तो अलौकिक सुख और शान्ति भी नहीं देते; मात्र सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपाय बता देते हैं। यह भी एक अद्‌भुत बात है कि जैनियों के भगवान भगवान बनने का उपाय बताते हैं। जगत में ऐसा कोई अन्य दर्शन हो तो बताओ कि जिसमें भगवान अपने अनुयायियों को स्वयं के समान ही भगवान बनने का मार्ग बताते हों। भगवान में लीन हो जाने की बात, उनकी कृपा प्राप्त करने की बात तो सभी करते हैं, पर तुम स्वभाव से तो स्वयं भगवान

हो ही और पर्याय में भी भगवान बन सकते हो — यह बात मात्र जैनियों के भगवान ही कहते हैं; साथ में वे भगवान बनने की विधि भी बताते हैं।

पृष्ठ-२१७

(७९९)

जैनियों के भगवान किसी को अपना भक्त नहीं बनाना चाहते हैं, वे तो सभी भव्यों को भगवान बनने का ही उपदेश देते हैं। वे तो यही चाहते हैं कि सभी जीव मुक्ति के मार्ग पर चलकर भगवान बनकर सिद्धशिला में आकर उन्हीं की बगल में उनकी बराबरी से विराजमान हो जावें। पृष्ठ-२१८

(८००)

भगवान तो यह कहते हैं कि तुम स्वयं भगवान हो और भगवान बन भी सकते हो। इसीलिए वे हमें भगवान बनने की विधि भी बताते हैं।

पृष्ठ-२१९

(८०१)

ध्यान चारित्र का सर्वोत्कृष्ट रूप है, ध्यान अवस्था में ही केवलज्ञान होता है, अनन्तसुख प्रगट होता है; अनन्तवीर्य की प्राप्ति भी ध्यानावस्था में ही होती है। अतः ध्यान मुद्रा ही धर्ममुद्रा है, सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है। पृष्ठ-२२०-२२१

(८०२)

ध्यान सर्वश्रेष्ठ है, पर किसका ध्यान ? अपने आत्मा का, पर का नहीं, परमात्मा का भी नहीं। निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। आज तक जितनी भी आत्माओं को सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई है, उन सभी को निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही हुई और भविष्य में भी जिन्हें सर्वज्ञता की प्राप्ति होगी, वह भी निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है। अतः आत्मध्यान ही धर्म है। पृष्ठ-२२१

(८०३)

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार

आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एकनाम आत्मानुभूति है। पृष्ठ-२२१

(८०४)

आत्मा का ध्यान ही धर्म है, क्योंकि आज तक जितने जीवों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, सभी को आत्मा का ध्यान करते-करते ही हुई है। अतः आत्मा का ध्यान ही धर्म है। पृष्ठ-२२७

***

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर की मुझमें कुछ गन्ध नहीं।
मैं अरस, अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं॥
मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड निज रस में रमने वाला हूँ॥
मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता, मुझ में पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ, पर में मेरा विश्राम नहीं॥
मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक, पर-परणति से अप्रभावी हूँ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ॥

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

क्रमबद्धपर्याय

(८०५)

'क्रमबद्धपर्याय' औरों के लिए एक सिद्धान्त हो सकती है, एकान्त हो सकती है, अनेकान्त हो सकती है, मजाक हो सकती है, राजनीति हो सकती है, पुरुषार्थप्रेरक या पुरुषार्थनाशक हो सकती है; अधिक क्या कहें किसी को कालकूट जहर भी हो सकती है। किसी के लिए कुछ भी हो — पर मेरे लिए वह जीवन है, अमृत है; क्योंकि मेरा वास्तविक जीवन, अमृतमय जीवन, आध्यात्मिक जीवन — इसके ज्ञान, इसकी पकड़ और इसकी आस्था से ही आरंभ हुआ है।

'क्रमबद्धपर्याय' की समझ मेरे जीवन में मात्र मोड़ लाने वाली ही नहीं; अपितु उसे आमूलचूल बदल देने वाली संजीवनी है। मेरी दृढ़ आस्था है कि जिसकी भी समझ में इसका सही स्वरूप आयेगा, यह तथ्य सही रूप में उजागर होगा; उसका जीवन भी आनन्दमय, अमृतमय हुए बिना नहीं रहेगा।

अपनी बात, पृष्ठ-(ix)

(८०६)

'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा एक ऐसी संजीवनी है, जो हर स्थिति में धैर्य को कायम रखती है, शान्ति प्रदान करती है, कर्तृत्व के अहंकार को तोड़ती है, ज्ञाता-दृष्टा बने रहने की पावन प्रेरणा देती है; अधिक क्या, यों कहिये न, कि जीवन को सफल सार्थक बना देती है। पृष्ठ-(xiii)

(८०७)

इसके निर्णय में सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है, सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप का निर्णय समाहित है। मुक्ति का मार्ग आरम्भ करने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, सब-कुछ इसकी श्रद्धा में आ जाता है। पृष्ठ-(xiii)

प्रथम खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन

(८०८)

जिसप्रकार नाटक में दृश्य क्रमशः आते हैं, एक साथ नहीं; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, एक साथ नहीं नाटक में यह भी तो निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौनसा दृश्य आयेगा; उसीप्रकार पर्यायों में भी यह निश्चित होता है कि किसके बाद कौनसी पर्याय आयेगी। जिसप्रकार जिसके बाद जो दृश्य आना निश्चित होता है, उसके बाद वही दृश्य आता है, अन्य नहीं; उसीप्रकार जिसके बाद जो पर्याय (कार्य) होनी होती है, वही होती है, अन्य नहीं। इसी का नाम 'क्रमबद्धपर्याय' है। पृष्ठ-२

(८०९)

'जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है; अन्यथा नहीं' — यह नियम है। पृष्ठ-३

(८१०)

जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्य में होने वाला है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो वह सब वर्त्तमानवत् स्पष्ट झलकता है। पृष्ठ-६

(८११)

भविष्य का ज्ञान होना तो मानें, पर भविष्य का निश्चित होना नहीं मानें, यह कैसे संभव है ? ऐसा तो सर्वसाधारण भी कह सकते हैं कि जो पढ़ेगा वह पास होगा। इसमें सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता क्या रही ? पृष्ठ-७

(८१२)

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य सम्बन्धी ज्ञान 'पढ़ेगा तो पास होगा' के रूप में अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढ़ेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नहीं पढ़ेगा और पास भी नहीं होगा' के रूप में निश्चयात्मक होता है। पृष्ठ-९

(८१३)

सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इन्कार करने का अर्थ समस्त जिनागम को तिलाञ्जलि देना होगा। पृष्ठ-१०

(८१४)

प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही हैं, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते ? तीन भव की आयु एक साथ बँध नहीं सकती। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि आयुकर्म बँध जाने से भव निश्चित हो गए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पहिले से ही निश्चित रहते हैं, आयुकर्म के बंध से निश्चित नहीं होते। पृष्ठ-१४

(८१५)

जिनकी होनहार खोटी होती है, उनकी श्रद्धा सर्वज्ञ पर भी नहीं टिकती। जिनका संसार अल्प रह जाता है, उन्हें ही सर्वज्ञता समझ में आती है।

पृष्ठ-१५

(८१६)

नेमिनाथ ने तो उसे जलाया था ही नहीं, परन्तु अन्य किसी ने भी उसे नहीं जलाया था; क्योंकि उसमें स्वयं उपादानगत ऐसी योग्यता थी कि वह स्वसमय में जल जावेगी तथा उसका निमित्त कौन होगा — यह भी उस योग्यता में शामिल था। उसमें पर का कोई कर्तृत्व नहीं था; क्योंकि जिन निमित्तों से वह जली, वे स्वयं भी नहीं चाहते थे कि द्वारका जले। इस उपादानगत योग्यता की ओर जगत ध्यान नहीं देता। इसीकारण जगत का सहज परिणमन उसकी समझ में नहीं आता।

पृष्ठ-१५-१६

(८१७)

आदिनाथ के समय से ही यह निश्चित था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। जब चौबीसवें तीर्थंकर होने का निश्चित था तो फिर बीच के भव भी निश्चित ही थे। निश्चित थे — तभी तो जाने जा सके, और बताये भी जा सके।

पृष्ठ-१६

(८१८)

इस पर लोगों को लगता है कि धर्म तो दूर, क्या पुण्य-पाप करना भी हमारे हाथ में नहीं है ? हम तो एकदम बँध गये। पृष्ठ-१७

(८१९)

उनसे हमारा कहना है कि शुभ और अशुभ भाव तो क्रमशः अपने आप बदलते ही रहते हैं; क्योंकि दोनों में से किसी का भी काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है; अतः प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी आप अन्तर्मुहूर्त से अधिक शुभभाव में नहीं ठहर सकते, यदि शुद्ध में नहीं गये तो फिर अशुद्ध में आना अनिवार्य है। यह परिवर्तन निगोद में भी हुआ करता है, वहाँ भी शुभभाव होते हैं; अन्यथा वहाँ से जीव निकले ही कैसे ? सैनी पंचेन्द्रिय होने का पुण्य एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी दशा में ही बाँधते हैं। पृष्ठ-१७

(८२०)

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लम्बाई है, उस लम्बाई में जहाँ जो चित्र स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार चलती हुई रील में कौनसा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमें भी फेर-फार सम्भव नहीं है। आगे कौनसा चित्र आएगा — भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयेगा वो वह अपने नियमितक्रम में ही। पृष्ठ-२३

(८२१)

जैसे सोपान (जीना) पर सीढ़ियों का क्षेत्र की अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चितक्रम होता है; उसीप्रकार उन पर चढ़ने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है। जिसप्रकार उन पर क्रम से ही चला जा सकता है; उसीप्रकार उन पर चढ़ने का कालक्रम भी है। पृष्ठ-२३

(८२२)

इस पर कई लोग कहते हैं कि यह तो बिल्कुल ठीक है कि जिनेन्द्रदेव नहीं टाल सकते; क्योंकि जैनमान्यतानुसार जिनेन्द्र भगवान जगत के मात्र ज्ञाता-

दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं; पर भगवान नहीं टाल सकते तो क्या हम भी नहीं टाल सकते हैं ? यदि हम भी नहीं टाल सकते तो फिर तो हम भगवान के ज्ञान के आधीन हो गये। जैसा उन्होंनें जान लिया, हमें वैसा ही करना होगा; अथवा हमारा परिणमन वैसा ही होगा, जैसा कि भगवान ने जाना है।

उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वस्तु का परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है और होगी; भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है। ज्ञान तो पर को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं। पृष्ठ-२६

(८२३)

जिसप्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं; उसीप्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण से होता है।

पृष्ठ-२६

मेरी समझ में यह नहीं आता कि ज्ञान के द्वारा जान लेने मात्र से वस्तु की स्वतंत्रता किसप्रकार खण्डित हो जाती है। स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान तो वस्तु के परिणमन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जानता है। पृष्ठ-२६-२७

(८२४)

दूसरे यह कहना कितना हास्यास्पद है कि जो भगवान ने जाना है, उसमें वे स्वयं भले ही कोई परिवर्तन न कर सकें, पर मैं तो कर सकता हूँ। यह भगवान से भी बड़ा हो गया। जो कार्य अनन्तवीर्य के धनी भगवान भी न कर सकते हों, वह कार्य यह अल्पवीर्यवान होकर भी कर दिखाना चाहता है।

पृष्ठ-२७

(८२५)

क्रमबद्धपर्याय के पोषक उक्त कथन का उद्देश्य ही पर—कर्त्तृत्व का निषेध है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है — यह मान्यता ही जैनदर्शन की मूलाधार (रीढ़) है। पृष्ठ-२७

(८२६)

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्त्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भीं अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्याय की कर्त्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है, अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीव-द्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है ? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो?

पृष्ठ-२८

(८२७)

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के कर्त्तृत्व में अथवा वह पर्याय ही अपने परिणमन में पूर्ण समर्थ है। हे आत्मन् ! तुझे उसमें कुछ भी नहीं करना है, तू व्यर्थ ही उसकी चिन्ता में अपना भव बिगाड़ रहा है। जिस द्रव्य अथवा पर्याय के परिणमन की चिन्ता तू अपने सिर पर लिए घूम रहा है, झूम रहा है, उसे तेरी अथवा तेरे सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है, परवाह नहीं है।

पृष्ठ-२८

(८२८)

कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति की समस्या ही यह है कि कोई उसका काम संभाले, तो वह निश्चिन्त हो। यह उसकी समझ में ही नहीं आता कि वह पर का या पर्याय का कुछ करता ही नहीं, अज्ञान के कारण मात्र उनकी चिन्ता करता है। और चिन्ता का कर्त्ता भी तभी तक है जब तक अज्ञान है।

पृष्ठ-२८-२९

(८२९)

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन कहा जाता है। अकर्त्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि इस जगत का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। ज्ञानी आत्मा तो अपने विकार का भी कर्त्ता नहीं होता।

पृष्ठ-२९

(८३०)

यदि फेर-फार नहीं कर सकते तो फिर मैं अपनी परिणति का कर्त्ता ही क्या रहा ? — इसप्रकार की शंका भी जगत को होती है; क्योंकि जिसने फेर-फार करने को ही करना मान रखा है, वह इससे आगे सोच भी क्या सकता है ? क्या फेर-फार करने के बिना कोई करना होता ही नहीं है ? क्या जैसा होना नहीं हो, वैसा करना ही करना है ? जैसा होना हो, वैसा करना करना नहीं है क्या ?

स्वकर्तृत्व कहो, सहजकर्तृत्व कहो, अकर्तृत्व कहो — सबका एक ही अर्थ है। जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है — इसका भाव ही यही है कि सहजकर्त्तावादी या स्वकर्त्तावादी है, परकर्त्तावादी या फेरफारकर्त्तावादी नहीं है। सहज होना और करना एक ही बात है। पृष्ठ-३०

(८३१)

जब प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने से द्रव रहा है, अपने नियमित प्रवाह में बह रहा है, सहज क्रमबद्ध परिणम रहा है; तो फिर ऐसी क्या आवश्यकता है कि वह अपने क्रम को भंग करे ? वस्तु के स्वरूप में ऐसा क्या व्यवधान है कि वह अपनी चाल बदले ? और क्यों बदले ? उसे क्या जरूरत है अपनी चाल बदलने की ?

बदले भी कैसे ? जबकि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्व-अवसर पर ही होती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं और एक-एक पर्याय एक-एक समय में खचित है। यदि एक पर्याय को अपने स्थान (समय) से हटाया जाएगा तो वह स्थान (समय) रिक्त हो जाएगा। उस स्थान (समय) की पूर्ति हेतु दूसरी पर्याय कहाँ से आवेगी ? जिस इष्ट पर्याय को आप लाना चाहते हैं, यदि उसे अपने स्थान (समय) से हटाकर वहाँ लायेंगे तो क्या यहाँ की पर्याय वहाँ ले जावेंगे ? जो कि सम्भव नहीं। पृष्ठ-३२

(८३२)

जिसप्रकार द्रव्य और गुण की त्रिकालसत्ता को चुनौती (चैलेन्ज) नहीं दी जा सकती; उसीप्रकार पर्याय की भी स्वसमय सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती। पृष्ठ-३२

(८३३)

क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति बिना दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्यायों में अपनी इच्छानुकूल फेर-फार करने का भार उसपर बना रहता है। फेर-फार करने के भार से बोझिल दृष्टि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वभाव की ओर देख सके। दृष्टि के सम्पूर्णतः निर्भार हुए बिना अन्तर-प्रवेश सम्भव नहीं। पृष्ठ-३३

(८३४)

यद्यपि स्वयं परिणमनशील इस जगत के परिणमन का रंचमात्र भी उत्तरदायित्व इसके माथे पर नहीं है; तथापि अज्ञानी आत्मा स्वयं की मिथ्या कल्पना के आरोपित भार से स्वयं ही दबा जा रहा है। पृष्ठ-३४

(८३५)

पर में तो इसे कुछ करना ही नहीं है, अपनी पर्याय में भी कुछ नहीं करना है। सब-कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा। पृष्ठ-३४

(८३६)

ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करने के विकल्प से ज्ञान स्वभाव-सन्मुख नहीं होता, अपितु इस विकल्प के भी भार से निर्भार होने पर ज्ञान स्वभाव-सन्मुख ढलता है। पृष्ठ-३५

(८३७)

यह एक ध्रुवसत्य है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है; अन्यथा ऐसा क्यों होता है कि जो ज्ञेय सामने है, उसका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने नहीं है — क्षेत्र-काल से दूर है, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है। नवविवाहित ऑफीसर को सामने बैठा

क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपितु ऑफिस से दूर घर में या पीहर में बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है। पृष्ठ-३५

(८३८)

ज्ञान की विवक्षित पर्याय में जानने की क्षमता के साथ-साथ यह क्षमता भी निश्चित ही होती है कि वह किस ज्ञेय को जानेगी। पृष्ठ-३७

(८३९)

प्रत्येक द्रव्य पर्वत (अचल) है। उसे चलायमान करने का प्रयत्न करना बालचेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि द्रव्य पर्वत (अचल) है तो पर्याय भी पार्वती (अचला) है। जिसप्रकार अचल द्रव्य को चलायमान नहीं किया जा सकता है; उसीप्रकार अचला पर्याय को भी स्वकाल से चलायमान करना सम्भव नहीं है। पृष्ठ-३७

(८४०)

द्रव्य यदि त्रिकाल सत् है तो पर्याय भी स्वकाल की सत् है अर्थात् सती है। पृष्ठ-३८

(८४१)

ध्यान रहे सती पर्याय से छेड़-छाड़ करने अर्थात् उसे बदलने की वृत्तिवाले अपराधियों को भी उसका दण्ड भोगना होगा, अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करना होगा। पर्याय के सत् का अपमान करने के इस महापाप (मिथ्यात्व) से वे बच न सकेंगे। पृष्ठ-३८

(८४२)

द्रव्य और गुण की अचलता प्रायः सब के ख्याल में सहज आ जाती है, अतः उनमें फेर-फेर करने की बुद्धि नहीं होती; किन्तु पर्याय की अचलता सहज ख्याल में नहीं आती — यही कारण है कि उसमें फेर-फार करने का बुद्धि बनी रहती है। क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ बिना पर्यायों की अचलता ख्याल में नहीं आती और उनमें फेर-फार करने की बुद्धि बनी ही रहती है।

पर्यायों में फेर-फार करने की मिथ्याबुद्धि ही अज्ञान है, कर्त्तावाद है। इसी कर्त्तावादी अज्ञान का निषेध समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार और

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पूरी शक्ति से किया गया है। जैनदर्शन के अकर्त्तावाद का यही मर्म है।

जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र यहीं तक सीमित नहीं कि कोई तथाकथित ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है। अकर्त्तावाद का व्यापक अर्थ यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं; यहाँ तक कि अपनी भी क्रमनिश्चित पर्यायों में वह किसी प्रकार का फेर-फार नहीं कर सकता है। यद्यपि द्रव्य अपनी पर्यायों का कर्त्ता है, तथापि फेर-फार कर्त्ता नहीं।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा अथवा उक्त अकर्त्तावादी दृष्टिकोण का एकमात्र सच्चा फल दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना ही है। क्रमबद्धपर्याय की विकल्पात्मक श्रद्धा करने के उपरान्त भी यदि दृष्टि स्वभाव-सन्मुख नहीं हुई तो समझना चाहिए कि उसे क्रमबद्धपर्याय की भी विकल्पात्मक श्रद्धा ही है, सच्ची श्रद्धा नहीं। क्योंकि क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा और दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होकर पर्याय में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने का एक काल है।

पृष्ठ-३८-३९

(८४३)

गोम्मटसार के नियतवाद और क्रमबद्धपर्याय में बहुत अन्तर है। एकान्तनियतवादी तो पुरुषार्थादि अन्य समवायों की उपेक्षा कर एकान्तनियतवाद का आश्रय लेकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है, जबकि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त तो पुरुषार्थादि अन्य समवायों को साथ लेकर चलता है। पृष्ठ-३९

(८४४)

गोम्मटसार में एकान्तों के कथन में जो नियतवादी मिथ्यादृष्टि का कथन है, उसका क्रमबद्धपर्याय से कोई साम्य नहीं है; नियतवादी जैसी स्वच्छन्दता का पोषण क्रमबद्धपर्याय में कदापि नहीं है। पृष्ठ-४२

(८४५)

जैनदर्शन अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार करता है। यद्यपि जैनधर्म अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है; तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैनदर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त

को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है। पृष्ठ-४३

(८४६)

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का। यथा — सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त, सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या-एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् -एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक्-अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या-अनेकान्त है। पृष्ठ-४४

(८४७)

'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्-नियतिवाद अर्थात् सम्यक्-एकान्त है जो कि सम्यक्-अनेकान्त की विरोधी नहीं, अपितु पूरक है। पृष्ठ-४४

(८४८)

काल की अपेक्षा कथन करने पर प्रत्येक कार्य स्वकाल (स्व-अवसर) में ही होता है — यह कहना सम्यक्-एकान्त होगा, मिथ्या-एकान्त नहीं; क्योंकि इस कथन में पुरुषार्थादि अन्य समवाय गौण हुए हैं, उनका अभाव अभीष्ट नहीं है। पृष्ठ-४५

(८४९)

क्रमबद्धपर्याय में अकेले काल को ही नियमित स्वीकार नहीं किया है; वरन् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और निमित्त को भी नियमित स्वीकार किया है। पृष्ठ-४६

(८५०)

फिर काल पर ही ऐतराज क्यों ? काल ही की नियमितता में बंधन की प्रतीति क्यों, अन्य में क्यों नहीं ? क्या कारण है कि अज्ञानी काल ही में शंकित होता है ?

इसका कारण है अज्ञानी का उतावलापन। पर्याय की अचलता का ज्ञान न होने से अज्ञानी में एक प्रकार का उतावलापन पाया जाता है कि इतनी प्रतीक्षा कौन करे ? कार्य जल्दी होना चाहिए। जिसका सम्यग्दर्शन-पर्याय की प्राप्ति का काल दूर होता है, उसे काल की नियमितता का विश्वास नहीं हो पाता।

पृष्ठ-४६

(८५१)

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खड़े हो जाइए और देखिये इस दुनिया का उतावलापन/चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खड़ा है आपको रोकने के लिए, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं। यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सड़क पार क़रना खतरे से खाली नहीं, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिसवाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं। क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है? इतनी भी जल्दी किस काम की? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है।

क्या यह इस देश का दुर्भाग्य नहीं है कि आप अपने उतावलेपन के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर मर न जावें, मात्र इसलिए लाखों पुलिसमैनों को चौराहों पर खड़ा रहना पड़ता है। पृष्ठ-४७

(८५२)

अपनी मौत की भी कीमत पर जिनको इतनी भी देरी स्वीकृत नहीं, पसंद नहीं; ऐसे अधीरिया — उतावले लोगों की समझ में यह कैसे आ सकता है कि जो कार्य जब होना होगा, तभी होगा।

यह काम तो धीरता का है, गम्भीरता का है; वीरता का भी है। जो धैर्य से गम्भीरतापूर्वक मनन करे, चिन्तन करे, उस वीर की समझ में ही 'क्रमबद्धपर्याय' आती है। इसमें पुरुषार्थ का लोप नहीं होता, वरन् सच्चा पुरुषार्थ प्रगट होता है।

उतावलेपन के अतिरिक्त पक्षव्यामोह भी एक कारण है जो काल की नियमितता की सहज स्वीकृति में बाधक बनता है? पृष्ठ-४८

(८५३)

पुरुषार्थ के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। सर्वत्र ही अन्य समवाय सापेक्ष पुरुषार्थ का साम्राज्य है। मुक्तिमार्गरूपी कार्य की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता में भी काललब्धि आदि अन्य समवायों के साथ-साथ पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी मुक्ति के मार्ग के सन्दर्भ में पुरुषार्थ की व्याख्या, जगत जिसे पुरुषार्थ समझता है, उससे कुछ भिन्न ही है। पृष्ठ-५३

(८५४)

मुक्ति के मार्ग में आत्मानुभवन की प्राप्ति का प्रयास ही पुरुषार्थ है।
पृष्ठ-५४

(८५५)

अनादिकाल से जगत के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल करने की आकुलता से व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्म-सन्मुख होता है। और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेर-फार नहीं कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्व-स्वभाव की ओर ढलती है।

दृष्टि का स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्ति के मार्ग में अनन्त पुरुषार्थ है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने वाले को उक्त श्रद्धा के काल में आत्मोन्मुखी अनन्त पुरुषार्थ होने का और सम्यग्दर्शन प्रगट होने का क्रम भी सहज होता है।
पृष्ठ-५४

(८५६)

पर और पर्याय सम्बन्धी विकल्पों से विराम लेकर स्व में स्थिर हो जाने में पुरुषार्थ नहीं दिखता। सर्वज्ञ भगवान पर में व अपनी पर्याय में भी कुछ भी फेर-फार नहीं करते, तो क्या वे पुरुषार्थहीन हो गये ? क्या उनके मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है ?
पृष्ठ-५४

(८५७)

पुरुषार्थ जीवद्रव्य की पर्याय है, इसलिये उसका कार्य जीव की पर्याय में होता है; किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता। पृष्ठ-५५

(८५८)

मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्त्तृत्व मानता है और कर्त्तृत्व की मान्यता वाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता; क्योंकि कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है। पृष्ठ-५५

(८५९)

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थ का कार्य है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है। पृष्ठ-५६-५७

(८६०)

जिन लोगों को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ उड़ता नजर आता है, वस्तुतः पुरुषार्थ का सही स्वरूप ही उनकी समझ में नहीं आया है। वे परकर्त्तृत्व और पर्याय के हेर-फेर को ही पुरुषार्थ माने बैठे हैं। उन्हें सर्वप्रथम पुरुषार्थ के सम्यक्स्वरूप का गंभीरता से विचार करना चाहिए। पृष्ठ-५७

(८६१)

आत्मानुभूति के साथ-साथ सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की सम्यक् पहिचान भी सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। पृष्ठ-५८

(८६२)

सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञता का स्वरूप समझना है। जिसप्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ में आते हैं, तो उसके पूर्व स्वप्नों में आते हैं; उसीप्रकार जिस आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट होती है, प्रगट होने के पूर्व उसे वह समझ में आती है। सर्वज्ञता समझ में आये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है। पृष्ठ-५९

(८६३)

अभी तो सर्वज्ञता समझ में ही नहीं आ रही है, प्रगट होने की बात ही कहाँ है ? सर्वज्ञता की समझ बिना, स्वीकृति बिना, धर्म की उत्पत्ति ही संभव नहीं है; तो फिर उसकी स्थिति, वृद्धि और पूर्णता का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ? पृष्ठ-५९

(८६४)

सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा भी संभव नहीं है; क्योंकि सच्चे देव का तो स्वरूप ही सर्वज्ञता और वीतरागता है। शास्त्र का मूल भी सर्वज्ञ की वाणी है। गुरु भी तो सर्वज्ञकथित मार्गानुगामी होते हैं।
पृष्ठ-५९-६०

(८६५)

सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय सिद्ध करने का एक कारण तो यह है कि सर्वज्ञता जैनदर्शन में सर्वमान्य है, उसमें किसी को भी विवाद नहीं है। अत: क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने का यह एक ठोस आधार है तथा जिन लोगों को सर्वज्ञता की बाहर से ही सही, थोड़ी बहुत श्रद्धा है; उन्हें सर्वज्ञता के आधार पर 'क्रमबद्ध' समझने में बहुत सुविधा रहती है। पृष्ठ-६०-६१

(८६६)

दूसरी बात यह है कि क्रमबद्धपर्याय का विषय अतिसूक्ष्म है; उसे सर्वज्ञता के आधार बिना साधारण बुद्धिवालों के गले उतारना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।
पृष्ठ-६१

(८६७)

मोह का नाश करने के लिए अपनी आत्मा को जानना जरूरी है और अपनी आत्मा को जानने के पूर्व अरहंत (सर्वज्ञ) को जानना जरूरी है। पृष्ठ-६३

(८६८)

क्या देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा उनके स्वरूप को जाने बिना ही हो जावेगी ? वे तो अपने स्वरूप में सदा सुरक्षित ही हैं, उन्हें हमारी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है। यदि हमें अपनी सुरक्षा करनी हो तो उनके सही स्वरूप को समझें। इसमें ही हमारी और हमारे धर्म की सुरक्षा है। धर्म-रक्षा की बात करने वालों को थोड़ा-बहुत ध्यान इस ओर भी देना चाहिए।
पृष्ठ-६३

(८६९)

अव्यवस्थित मतिवाले को जगत अव्यवस्थित नजर आता है, यदि गम्भीरता से विचार करें तो पता चल सकता है कि जगत को व्यवस्थित नहीं करना है, वह तो व्यवस्थित ही है; मुझे अपनी मति व्यवस्थित करनी है। पृष्ठ-६४

(८७०)

एक बात यह भी तो है कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त प्राणियों की मति व्यवस्थित हो भी तो नहीं सकती; क्योंकि व्यवस्थापक बनने की धुन में मस्त जगत यह स्वीकार कैसे कर सकता है कि जगत स्वयं व्यवस्थित है।

पृष्ठ-६५

(८७१)

'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा — प्रतीति बिना मति व्यवस्थित हो ही नहीं सकती। पृष्ठ-६५

(८७२)

चाहे कितना ही ईमानदार व्यवस्थापक क्यों न हो, व्यवस्थापक द्वारा की गई व्यवस्था कभी भी पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसंगत नहीं हो सकती; स्वयंचालित व्यवस्था ही पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसंगत होती है।

पृष्ठ-६५

(८७३)

व्यवस्थित-व्यवस्था में बेईमानी संभव नहीं है। यही कारण है कि जो नियमितक्रम अर्थात् व्यवस्थित-व्यवस्था को भंग कर समय के पहिले काम कर लेने की भावना रखते हैं, उन्हें व्यवस्थित-व्यवस्था सहज स्वीकार नहीं होती। पृष्ठ-६६

(८७४)

सर्वज्ञता के निर्णय से, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्त्तृत्व का अहंकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर में फेर-फार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है; इसकारण तत्संबंधी आकुलता-व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होने के साथ-साथ अनन्त शांति का अनुभव होता है।

सर्वज्ञता के निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् जब वही आत्मा, आत्मा के आश्रय से वीतराग-परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय वह भी आता है कि जब

वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है। आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है। पृष्ठ-६६-६७

(८७५)

सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझने के लिए आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ अपेक्षित है। क्रमबद्धपर्याय समझने का भी एकमात्र यही उपाय है। पृष्ठ-६७

द्वितीय खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : कुछ प्रश्नोत्तर

(८७६)

द्रव्य-गुण के साथ पर्याय भी स्वसमय की सत् है; उसमें भी अपनी इच्छानुसार कोई फेर-फार नहीं किया जा सकता है। जब हमें यह विश्वास हो जावेगा तो उसमें फेर-फार करने की बुद्धि भी नहीं रहेगी। पृष्ठ-७२

(८७७)

प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, ध्रुवता के समान परिणमन भी उसका स्वभाव है, उसे अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि स्वभाव पर—निरपेक्ष ही होता है। यह परिणमन कभी रुक जाए — इसका प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि परिणमन भी इसका नित्यस्वभाव है। अर्थात् नित्यपरिणमनशीलता प्रत्येक द्रव्य का सहज स्वभाव है। जल्दी और देरी होने की भी कोई समस्या नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पर्याय एक समय की ही होती है। किसी पर्याय का दो समय रुकने का प्रश्न ही नहीं उठता और एक समय के पहले समाप्त होने का भी प्रश्न संभव नहीं है।

अब रही बात यह कि यह सब कौन करता है ? उसके सम्बन्ध में बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, निरन्तर उल्लसित हो रही हैं; उनके द्वारा ही यह सब सहज होता रहता है। पृष्ठ-७३-७४

(८७८)

'हम अपनी पर्याय को भी नहीं बदल सकते' — जब यह कहा जाता है, तब उसका आशय यह होता है कि हम उसके निश्चित क्रम में कोई फेर-

बदल नहीं कर सकते; यह नहीं होता कि उसके परिणमन के कर्त्ता भी हम नहीं हैं। छह शक्तियों के कारण ही तो पर्याय स्वसमय में होती है। इसलिए अपनी पर्याय का कर्त्ता तो द्रव्य है ही।

जिनवाणी में एक अपेक्षा यह भी आती है कि जिसमें पर्याय का कर्त्ता पर्याय को कहा जाता है, द्रव्य को नहीं। त्रिकाली उपादान की अपेक्षा पर्याय का कर्त्ता वह द्रव्य या गुण कहा जाता है, जिसकी वह पर्याय होती है; और क्षणिक उपादान की अपेक्षा तत्समय की योग्यता ही कार्य की नियामक होने से पर्याय को ही पर्याय का कर्त्ता कहा जाता है। यह पर्याय की स्वतंत्रता की चरम परिणति है, जो उसके सहज क्रमनियमित परिणमन को सिद्ध करती है।

परिणमनशीलता द्रव्य का सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्य को अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। कोई भी द्रव्य एक समय को भी परिणमन से खाली नहीं रहता। यदि एकसमय भी परिणमन रुक जाये तो द्रव्य का द्रव्यत्व ही कायम न रहे। द्रवणशीलता — परिणमनशीलता का नाम ही द्रव्य है। पृष्ठ-७६

(८७९)

यदि किसी द्रव्य का एकसमय को भी परिणमन रुक जाये तो उसकी मौत (अभाव) का प्रसंग उपस्थित होगा। और द्रव्य के अभाव के साथ-साथ विश्व के अभाव का भी प्रश्न आयेगा; क्योंकि छह द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व है। पृष्ठ-७७

(८८०)

द्रव्य को निरन्तर परिणमन में कोई कठिनाई नहीं आती, निरन्तर परिणमन ही उसका जीवन है। पृष्ठ-७७

(८८१)

प्रश्न : जब हम पर का कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर हमारी स्वतंत्रता ही क्या रही ?

उत्तर : क्या पर में कुछ करने का नाम ही स्वतंत्रता है ? जब यह कहा जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, तब उसका

अर्थ आप मात्र इतना ही क्यों लेते हैं कि आप दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, यह क्यों नहीं लेते की आपका भी तो कोई कुछ नहीं कर सकता ?

जब आप यह विचार करेंगे तो आपको यह स्वतंत्रता अनुभव होगी कि देखो मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। पृष्ठ-७७-७८

(८८२)

क्रमबद्धपर्याय की बात तो अनन्त स्वतंत्रता की सूचक है। इसको बुद्धिपूर्वक हृदय से स्वीकार करने वाले को तो अनन्त स्वतंत्रता की प्रतीति होती है। यह जानकर किसको प्रसन्नता नहीं होगी कि हमारा सुख-दुःख, जीवन-मरण, भला-बुरा सब-कुछ हमारे अधिकार में है, उसमें किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।

यह जानकर भी जिसको प्रसन्नता न हो, समझना चाहिए या तो वह गुलामवृत्ति का व्यक्ति है या फिर अन्यों को गुलाम बनाकर रखने की वृत्ति वाला है।

पृष्ठ-७८

(८८३)

'क्रमबद्धपर्याय' में वस्तु की अनन्त स्वतन्त्रता की घोषणा है।

पृष्ठ-७८

(८८४)

कथन मात्र से वे मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाते; क्योंकि मिथ्यात्व तो मान्यता संबंधी दोष है।

पृष्ठ-७९

(८८५)

प्रश्न : ज्ञानी की मान्यता और कथन में अन्तर होता है ?

उत्तर : हाँ, अवश्य होता है; पर इसका कारण ज्ञानी के हृदय की अपवित्रता नहीं, अपितु वस्तु की स्थिति है; क्योंकि ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचनव्यवहार लोकप्रचलित व्यवहार के अनुसार होता है।

वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद किसी के नहीं हैं; फिर भी लोक में इन्हें अपने कहने का व्यवहार प्रचलित

है। मान्यता का सम्बन्ध सीधा वस्तुस्वरूप से है और वाणी का व्यवहार लौकिकजनों से होता है। अतः ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचन-व्यवहार लोक-व्यवहार के अनुसार होता है।

पृष्ठ-७९

(८८६)

जबतक वचन-व्यवहार है, तबतक मान्यता और वाणी का यह अन्तर तो रहेगा ही। पृष्ठ-८०

(८८७)

स्वसमय में अपनी होनहार के अनुसार उचित निमित्तपूर्वक ही सब-कुछ घटित हुआ है। पृष्ठ-८४

(८८८)

जब काल को मुख्य करके कथन होता है, तब उसे कालमृत्यु कहते हैं और जब काल मुख्यकारणरूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विषभक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दें तो उसे अकालमरण कहेंगे। अकालमृत्यु की परिभाषा में कहा भी गया है कि विषभक्षणादि के द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहते हैं। पृष्ठ-८५

(८८९)

अकालमृत्यु असमय की सूचक न होकर काल के अतिरिक्त मुख्यरूप से अन्य कारणों से होने वाली मृत्यु की सूचक है। पृष्ठ-८६

(८९०)

'भविष्य की पर्यायें भी क्रमबद्ध ही होती हैं' — यह ज्ञान होने पर भी यदि हमें यह ज्ञान नहीं है कि किसके बाद कौनसी पर्याय होगी — तो इससे वे अक्रमबद्ध कैसे हो जावेंगी, जिससे हम यह कह सकें कि हमारे ज्ञानानुसार पर्यायें अक्रमबद्ध होती हैं।

इससे तो हमारी अज्ञानता ही सिद्ध होती है, पर्यायों की अक्रमबद्धता नहीं। हमें अपने अज्ञान को पर्यायों पर थोपने का क्या अधिकार है ? पृष्ठ-८७

(८९१)

सम्यक् अनेकान्त द्रव्य – पर्यायात्मक वस्तु पर घटित होता है और सम्यक् एकान्त द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु के अंश अर्थात् द्रव्य या पर्याय पर घटित होता है।

पृष्ठ-९१

(८९२)

अकाल मरण का आशय स्वकाल के बिना होनेवाले मरण से नहीं है, अपितु आयुकर्म के अपकर्षणादि से है। आयु के अपकर्षणादि के कारण अकाल मरण उसकी संज्ञामात्र है। वास्तव में तो प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है।

पृष्ठ-९३

(८९३)

जिस कार्य की उत्पत्ति में काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं; उसे अकालनय का विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है; उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल में कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।

इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कार्य समय के पहले हो गया।

पृष्ठ-९४

(८९४)

प्रत्येक कार्य के होने का काल ही नहीं, निमित्तादि सभी समवाय निश्चित होते हैं और सबके मिलने पर ही कार्य होता है। तथा जब कार्य होना होता है या जो कार्य होना होता है; तब वे सभी कारण (समवाय) मिलते ही मिलते हैं। ऐसा नहीं होता कि कभी कोई मिले और कभी कोई। सभी को एक साथ मिलने के कारण ही उन्हें समवाय कहा जाता है।

यहाँ अकाल का अर्थ असमय या समय से पूर्व नहीं है; अपितु काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादि समवायों का समुदाय है। काल का अर्थ भी समय मात्र नहीं है, अपितु काललब्धि नामक एक समवाय है। काल को छोड़कर शेष चार समवायों को एक नाम से कहना था तो अकाल के सिवाय और क्या कहा जा सकता था ?

जिसप्रकार जीव से भिन्न पाँच द्रव्यों को अजीव कहा जाता है; उसीप्रकार यहाँ काल (काललब्धि) से भिन्न चार समवायों को अकाल कहा गया है।

अत: 'कालनय से' का अर्थ है — काललब्धि की अपेक्षा कथन करने पर और 'अकालनय से' का अर्थ है — काललब्धि को छोड़कर अन्य पुरुषार्थादि समवायों की अपेक्षा कथन करने पर। पृष्ठ-९५-९६

(८९५)

कालनय और अकालनय का 'क्रमबद्धपर्याय से कोई विरोध नहीं है, अपितु ये नय क्रमबद्धपर्याय के साधक ही हैं। पृष्ठ-९६

(८९६)

वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ से भय का वातावरण कैसे बन सकता है ? भय का वातावरण तो अज्ञान और कषाय से बनता है; भय स्वयं एक कषाय है, पच्चीस कषायों में उसका भी नाम आता है। पृष्ठ-९८

(८९७)

वस्तुस्थिति भी यही है कि निर्भयता सत्य के आधार पर आती है, कल्पना के आधार पर नहीं। पृष्ठ-९९

(८९८)

णमोकारमंत्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे — यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मंत्र बोलेगा; तब-तब देवता आवेंगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है — ऐसा करने से ऐसा होता ही है; यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है; अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रांत क्यों होता?

ज्ञानी भी णमोकारमंत्र पढ़ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकारमंत्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकारमंत्र तो वह सहज अशुभ भाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है। पृष्ठ-१००

मैं कौन हूँ ?

सुख क्या है ?

(८९९)

भोग-प्राप्ति वाला सुख जिसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं — काल्पनिक है तथा वास्तविक सुख इससे भिन्न है। पृष्ठ-३

(९००)

न तो कभी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण होने वाली हैं और न ही यह जीव इच्छाओं की पूर्ति से सुखी होने वाला है। पृष्ठ-३

(९०१)

सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं, क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अतः यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा जाए कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अतः उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है। पृष्ठ-३

(९०२)

सुख का स्वभाव तो निराकुलता है और इन्द्रियसुख में निराकुलता पाई नहीं जाती है। जो इन्द्रियों द्वारा भोगने में आता है वह विषय सुख है, वह वस्तुतः दुःख का ही एक भेद है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है। अतीन्द्रिय आनन्द इन्द्रियातीत होने से उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं भोगा जा सकता। जैसे — आत्मा अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार अतीन्द्रिय सुख आत्मामय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-४

(९०३)

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ हो ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहाँ संभावना ही न हो, उसे वहाँ कैसे पाया जा सकता है ? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का एक गुण है, अतः ज्ञान की प्राप्ति चेतनात्मा में ही संभव है, जड़ में नहीं; उसी प्रकार 'सुख' भी आत्मा का एक गुण है, जड़ का नहीं, अतः सुख की प्राप्ति आत्मा में ही होगी, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं। पृष्ठ-४

(९०४)

इसकी सुख की खोज की दिशा ही गलत है। दिशा गलत है, अतः दशा भी गलत (दुःख रूप) होगी ही। सच्चा सुख पाने के लिए हमें परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर स्वयं को (आत्मा को) देखना होगा, स्वयं को जानना होगा, क्योंकि अपना सुख अपनी आत्मा में है। आत्मा अनंत आनंद का कंद है, आनन्दमय है। अतः सुख चाहने वालों को आत्मोन्मुखी होना चाहिए। परोन्मुखी दृष्टि वाले को सच्चा सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। पृष्ठ-४

(९०५)

समस्त पर-पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में तन्मय होने पर ही वह प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि आत्मा सुखमय है, अतः आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। जिस प्रकार बिना अनुभूति के आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार बिना आत्मानुभूति के सच्चा सुख भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। पृष्ठ-४-५

(९०६)

आत्मा को सुख कहीं से प्राप्त नहीं करना है क्योंकि वह सुख से ही बना है, सुखमय ही है, सुख ही है। जो स्वयं सुख-स्वरूप हो उसे सुख क्या पाना ? सुख पाने की नहीं, भोगने की वस्तु है, अनुभव करने की चीज है। सुख के लिए तड़पना क्या ? सुख में तड़पन नहीं है, तड़पन में सुख का अभाव है, तड़पन स्वयं दुःख है, तड़पन का अभाव ही सुख है। इसी प्रकार सुख को क्या चाहना? चाह स्वयं दुःखरूप है, चाह का अभाव ही सुख है। पृष्ठ-५

(१०७)

'सुख क्या है ?', 'सुख कहाँ है ?', 'वह कैसे प्राप्त होगा?' इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है, और वह है आत्मानुभूति। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। पृष्ठ-५

मैं कौन हूँ ?

(१०८)

तब प्रश्न उठता है कि आखिर 'मैं हूँ कौन?' यदि एक बार यह प्रश्न हृदय की गहराई से उठे और उसके समाधान की सच्ची जिज्ञासा जगे तो इसका उत्तर मिलना दुर्लभ नहीं है; पर यह 'मैं' पर की खोज में स्वयं को भूल रहा है। कैसी विचित्र बात है कि खोजनेवाला खोजने वाले को ही भूल रहा है। सारा जगत पर की संभाल में इतना व्यस्त नजर आता है कि 'मैं कौन हूँ?' — यह सोचने-समझने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

'मैं' शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष, यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्षी बुद्धि से भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त, चैतन्य, ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, जिसे आत्मा कहते हैं। पृष्ठ-६-७

(१०९)

'मैं कौन हूँ ?' का सही उत्तर पाने के लिए 'मैं आत्मा हूँ' की अनुभूति प्रबल हो, यह अति आवश्यक है। पृष्ठ-७

(११०)

'मैं' का वाच्यार्थ 'आत्मा' तो अनादि-अनन्त अविनाशी त्रैकालिक तत्त्व है। जब तक उस ज्ञानस्वभावी अविनाशी ध्रुवतत्त्व में अहंबुद्धि (वही 'मैं' हूँ ऐसी मान्यता) नहीं आती तब तक 'मैं कौन हूँ ?' यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा। पृष्ठ-८

(१११)

'मैं' शब्द के द्वारा जिस आत्मा का कथन किया जाता है, वह आत्मा अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है, अनुभवगम्य है, बहिर्लक्षी दौड़धूप से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह स्वसंवेद्य तत्त्व है, अतः उसे मानसिक

विकल्पों में नहीं बाँधा जा सकता है। उसे इन्द्रियों द्वारा भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियाँ तो मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द की ग्राहक हैं; अतः वे तो केवल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले जड़तत्त्व को ही जानने में निमित्त मात्र हैं। वे इन्द्रियाँ अरस, अरूपी आत्मा को जानने में एक तरह से निमित्त भी नहीं हो सकती हैं। पृष्ठ-८

(९१२)

यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कंद है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और मोह-राग-द्वेष आदि सर्व पर-भावों से भिन्न, सर्वांग परिपूर्ण शुद्ध है। समस्त पर-भावों से भिन्नता और ज्ञानादिमय भावों से अभिन्नता ही इसकी शुद्धता है। यह एक है, अनन्त गुणों की अखण्डता ही इसकी एकता है। ऐसा यह आत्मा मात्र आत्मा है और कुछ नहीं है, यानी 'मैं' मैं ही हूँ, और कुछ नहीं। 'मैं' मैं ही हूँ और अपने में ही सब कुछ हूँ। पृष्ठ-८

आत्मानुभूति और तत्त्वविचार

(९१३)

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को परलक्ष्य से हटा कर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) में लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। वह ज्ञानतत्त्व से निर्मित होने से, ज्ञानतत्त्व की ग्राहक होने से और सम्यग्ज्ञानपरिणति की उत्पादक होने से ज्ञानमय है। पृष्ठ-९

(९१४)

यह ज्ञानमय दशा आनन्दमय भी है, यह ज्ञानानन्दमय है। इसमें ज्ञान और आनन्द का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी इन्द्रियातीत है और आनन्द भी इन्द्रियातीत। यह अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की दशा ही धर्म है। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व पर सम्पूर्ण प्रगट ज्ञानशक्ति का केन्द्रीभूत हो जाना धर्म की दशा है। अतः एक मात्र वही ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व ध्येय है, साध्य है, और आराध्य है। पृष्ठ-९

(९१५)

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एक मात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है। पृष्ठ-१०

(९१६)

चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बँधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता तब तक मुख्यत: मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्मा-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणति रूप परिणत हो जायगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्याय रूप परिणमित हो जायेगा। पृष्ठ-१०

(९१७)

दूसरे शब्दों में रंग, राग और भेद से भी परे चेतन तत्त्व है। रंग माने पुद्‌गलादि परपदार्थ, राग माने आत्मा में उठने वाले शुभाशुभ रूप रागादि विकारी भाव, और भेद माने गुण-गुणी भेद व ज्ञानादि गुणों के विकास सम्बन्धी तारतम्य रूप भेद; इन सबसे परे ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव तत्त्व है, वही एक मात्र आश्रय योग्य तत्त्व है। उसके प्रति वर्तमान ज्ञान के उघाड़ का सर्वस्व समर्पण ही आत्मानुभूति का सच्चा उपाय है। पृष्ठ-११

(९१८)

स्वानुभूति के लिए स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्ति को जितना ज्ञान प्राप्त है, वह पर्याप्त है। पृष्ठ-११

(९१९)

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। पृष्ठ-१२

(९२०)

आत्मानुभूति में पर के सहयोग का विकल्प बाधक ही है, साधक नहीं।

पृष्ठ-१२

आत्मानुभूति : प्रक्रिया और क्रम

(९२१)

दया, दान, पूजा, भक्ति, तत्त्वविचार आदि के भाव शुभ भाव हैं और पंचेन्द्रियों के विषय एवं हिंसादि पाँच पाप आदि के भाव अशुभ भाव। अपने उपयोग को पर से समेट कर अपने में लीन हो जाना ही शुद्ध भाव है।

पृष्ठ-१४

(९२२)

आत्मानुभूति की दशा शुद्ध भाव है और आत्मानुभूति प्राप्त करने का विकल्प शुभ भाव। आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प अशुभ भावों के अभावपूर्वक ही आते हैं। आत्मानुभूति की प्राप्ति के प्रयत्न के काल में हिंसादि और भोगादि के विकल्प बने रहें, यह संभव ही नहीं। पृष्ठ-१४

(९२३)

आत्मानुभूति-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षों का अवलम्बन करने वाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है। पृष्ठ-१५

आत्मानुभवी पुरुष : अंतर्बाह्य दशा

(९२४)

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अन्तर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ

विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं। वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनन्द पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है।

वह ज्ञानानन्द की दशा ऐसी होती है कि बाहर की अनन्त प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ उसे भग्न नहीं कर सकतीं। उन्हें उनकी ख़बर ही नहीं पड़ती। वे तो अपने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि लोक की कोई भी घटना उनके आनन्द सागर में भँवर पैदा नहीं कर सकती। उनका वह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है। यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है, सिद्धों के आनन्द का अनंतवाँ भाग ही है; तथापि है उसी जाति का। पृष्ठ-१६

(९२५)

आत्मानुभूति के काल के पश्चात् अन्य समय में भी उन्हें उसकी खुमारी सदा बनी रहती है क्योंकि अन्य समय में भी भूमिकानुसार शुद्ध परिणति का अंश एवं लब्धिरूप से शुद्धात्मानुभूति पाई जाती है। पृष्ठ-१६

(९२६)

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों के चित्त को वर्तमान आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ विचलित नहीं कर पाती हैं। लौकिक घटनाएँ उन्हें आन्दोलित नहीं करतीं, वे मात्र उन्हें जानते हैं, वे उनके ज्ञान का मात्र ज्ञेय बनकर रह जाती हैं। भूमिकानुसार कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जावें तो वे उसे भी ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं। पृष्ठ-१७

(९२७)

उनका चित्त चन्दन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमें दीनता नहीं रहती, वे विषय के भिखारी नहीं होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने से सच्चे लक्षपति (लखपति) होते हैं। साथ ही उनके हृदय में पूर्ण आत्म-स्वभाव को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ वीतरागियों के प्रति अनंत भक्ति का भाव रहता है। पृष्ठ-१७-१८

(९२८)

जिसप्रकार गृहस्थों के बच्चे उनके मकान के सामने से गुजरने वाले मार्ग में खेला करते हैं, उसी प्रकार ये जिनेश्वर के लघुनन्दन मुक्ति-मार्ग में खेला करते हैं। पृष्ठ-१८

(९२९)

यद्यपि राग-द्वेष की तीव्रता के काल में उनके बाहर तीव्र क्रोधादिक रूप परिणति भी देखने में आवे, वे भोगों में प्रवर्त्त होते हुए भी दिखाई दें, भयंकर युद्ध में सिंह से गर्जते प्रवर्त्त हों; तथापि उनकी श्रद्धा में पर के कर्त्तृत्व का अहंकार नहीं होता। पर से पृथक्त्व एवं उसके अकर्त्तृत्व की श्रद्धा सदा विद्यमान रहती है। उनकी प्रवृत्ति धाय के समान होती है। पृष्ठ-१८

(९३०)

आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्मा-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है। पृष्ठ-१८

(९३१)

कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत: मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है; उसी प्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते। पृष्ठ-२७

(९३२)

मुक्ति के मार्ग के पथिक का व्यक्तित्व द्वैध व्यक्तित्व होता है। उसकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है और जीवन भूमिकानुसार। पृष्ठ-२९

श्रावक की जीवन-धारा

(९३३)

समस्त जगत दो धाराओं में विभक्त है — एक भौतिक दूसरी आध्यात्मिक।

पृष्ठ-४२

(९३४)

भौतिक धारा भोगमय धारा है। असीम और अनन्त भोग ही उसका लक्ष्य है। आध्यात्मिक धारा त्यागमय है और सर्व पर का त्याग एवं एक आत्मनिष्ठता ही उसका सर्वस्व है।

(९३५)

परस्पर विरुद्ध पथानुगामिनी उक्त दोनों धाराओं के अद्‌भुत सम्मिलन का नाम ही श्रावक धर्म की स्थिति है। श्रावक भोगों का पूर्ण त्यागी न होकर भी उनकी मर्यादा अवश्य स्थापित करता है। श्रावक धर्म योग पक्ष और भोग पक्ष का अस्थायी समझौता है, जिसकी धारा में पंचाणुव्रत और सप्तशील व्रत हैं

पृष्ठ-४२

(९३६)

भोगों की अनन्त इच्छायें तो कभी पूर्ण हो नहीं सकतीं, अतः अमर्यादित भोगों को इकट्‌ठा करने के लिए हिंसा की अनुमति तो दी नहीं जा सकती। मध्यम मार्ग के रूप में गृहस्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक आरम्भी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसा-भाव को छोड़कर बाकी हिंसा भाव का पूर्णतः त्याग करना चाहिए। इसी का नाम अहिंसाणुव्रत है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के बारे में भी जानना चाहिए। पृष्ठ-४३

(९३७)

समय शब्द् का अर्थ यहाँ आत्मा है, अतः आत्मलीनता का नाम ही सामायिक है।

पृष्ठ-४४

(९३८)

आत्म-स्वभाव के समीप ठहरना यानी आत्मलीनता ही वास्तविक उपवास (उप = समीप, वास = ठहरना) है। पृष्ठ-४४

(९३९)

ज्ञानीश्रावक की स्थिति अस्थायी युद्धविराम जैसी स्थिति है। उसके अन्तर में निरन्तर राग और विराग का एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। उसमें राग के प्रबल होते ही वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगता है और विराग पक्ष के सबल होने की स्थिति में भोगों का सर्वथा त्यागी मुनि बन जाता है। पृष्ठ-४५

तीर्थंकर भगवान महावीर

(९४०)

जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान बन सकता है, पर तीर्थंकर एक युग में व भरत क्षेत्र में चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर, भगवान तो नियम से होते हैं; पर प्रत्येक भगवान तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान हो सकते हैं। पृष्ठ-४६

(९४१)

भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। जन्म से कोई भगवान नहीं होता। महावीर भी जन्म से भगवान नहीं थे। भगवान तो वे तब बने जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। पृष्ठ-४६

(९४२)

वे आरम्भ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे। बीच के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्मआराधनारत रहे और अन्तिम ३० वर्षों में प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे। पृष्ठ-४६

(९४३)

ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है। पृष्ठ-४८

(९४४)

मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को पूर्णतया जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने। पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होने से वे भगवान कहलाए। पृष्ठ-५०

(९४५)

उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार प्राप्त था। छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं था। राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म-श्रवण करते थे। यहाँ तक कि उसमें मानवों-देवों के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था थी और बहुत से पशुगण भी शान्तिपूर्वक धर्मश्रवण करते थे। सर्व प्राणी समभाव जैसा महावीर की धर्मसभा में प्राप्त था वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पृष्ठ-५०

भगवान महावीर और उनकी उपासना

(९४६)

भगवान महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्त्ता-धर्ता न होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) में पर में कर्तृत्व बुद्धि नहीं होती। जब तक पर में फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी तब तक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नहीं कहा जा सकता है। पृष्ठ-५२

(९४७)

भगवान महावीर ने चारित्र को सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही कहा है। अज्ञानपूर्वक की गई कोई भी प्रक्रिया धर्म नहीं कहला सकती है। पृष्ठ-५३

व्यावहारिक जीवन में महावीर के आदर्श

(९४८)

दु:ख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी तब तक पूर्ण सुखी होना सम्भव नहीं है। मोह-राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है। पृष्ठ-५६

(९४९)

यद्यपि यह सत्य है कि भगवान महावीर ने हिंसादि पापों के रंचमात्र भी संद्भाव को श्रेयस्कर नहीं माना है तथापि उनको जीवंन में उतारने के लिए अनेक स्तरों का प्रतिपादन किया है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें जीवन में अपनाना सम्भव ही नहीं; वरन् प्रयोगसिद्ध है। पृष्ठ-५७

(९५०)

जहाँ साधु का जीवन पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होता है वहीं श्रावकों के जीवन में योग्यतानुसार सीमित परिग्रह का ग्रहण होता है तथा जहाँ गृहस्थ बिना प्रयोजन चींटी तक का बध नहीं करता है; वहीं देश, समाज, घर-बार, मां-बहिन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करता। पृष्ठ-५७

(९५१)

भगवान महावीर ने सदा ही अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण छुआछूतमूलक न होकर जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाए गए हैं। पृष्ठ-५८

धार्मिक सहिष्णुता और भगवान महावीर

(९५२)

यदि हम शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व के प्रति सहनशील बनना होगा। सहनशीलता सहिष्णुता का ही पर्यायवाची है। पृष्ठ-६०

(९५३)

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है,

उसके परिणमन में परपदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहाँ तक कि परमपिता परमेश्वर भी उसकी सत्ता का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतन्त्र सत्ता की उंद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई है। दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दु:ख का कारण है। पृष्ठ-६०

(९५४)

विश्वशांति की कामना करने वालों को तीर्थंकर महावीर द्वारा बताये गये अहस्तक्षेप, अनाक्रमण और सहअस्तित्व के मार्ग पर चलना आवश्यक है, इसमें ही सबका हित निहित है। पृष्ठ-६२

(९५५)

धर्म के सर्वोदय स्वरूप का तात्पर्य सर्वजीव समभाव, सर्वधर्म समभाव, और सर्वजाति समभाव से है। सबका उदय वही सर्वोदय है। अर्थात् सब जीवों को उन्नति के समान अवसरों की उपलब्धि ही सर्वोदय है। दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है। पृष्ठ-६२

(९५६)

वास्तविक धर्म वह है जो इस तनाव व घुटन को समाप्त करे या कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त वातावरण मानसिक शान्ति भंग कर देता है। पृष्ठ-६३

(९५७)

धर्म में संकीर्णता और सीमा नहीं होती। आत्मधर्म सभी आत्माओं के लिए है। धर्म को मात्र मानव से जोड़ना भी एक प्रकार की संकीर्णता है, वह तो प्राणी मात्र का धर्म है। पृष्ठ-६४

(९५८)

धर्म का सर्वोदय स्वरूप तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता क्योंकि आग्रह-विग्रह पैदा करता है, प्राणी को असहिष्णु बना देता है। पृष्ठ-६४

(१५१)

धर्मतत्त्व के प्रचार के लिए हिंसा अपनाई गई। वही हिंसा उसके ह्रास का कारण बनी। किसी का मन तलवार की धार से नहीं पलटा जा सकता। अज्ञान ज्ञान से कटता है, उसे हमने तलवार से काटने का यत्न किया। विश्व में नास्तिकता के प्रचार में इसका बहुत बड़ा हाथ है। पृष्ठ-६४

* * *

महावीर वन्दना

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावैं पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है॥
जिनके विमल उपदेश में, सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्त्ता न धर्त्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

× × ×

संसार भावना

दुखमय निरर्थक मलिन जो सम्पूर्णतः निस्सार है।
जगजालमय गति चार में संसरण ही संसार है॥
भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण संसार का आधार है।
संयोगजा चिद्वृत्तियाँ ही वस्तुतः संसार है॥
संयोग हों अनुकूल फिर भी सुख नहीं संसार में।
संयोग को संसार में सुख कहें बस व्यवहार में॥
दुख-द्वन्द हैं चिद्वृत्तियाँ संयोग ही जगफन्द हैं।
निज आतमा बस एक ही आनन्द का रसकन्द है॥

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

प्रथम खण्ड

निमित्तोपादान : एक अनुशीलन

(९६०)

मुक्ति के मार्ग में जिन महत्त्वपूर्ण विषयों का सम्यक् परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, उनमें से 'उपादन-निमित्त' भी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसके सम्यक् ज्ञान बिना परावलम्बन की दृष्टि एवं वृत्ति समाप्त नहीं होती, स्वावलम्बन का भाव जागृत नहीं होता, मुक्ति के मार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी स्फुरायमान नहीं होता है। पृष्ठ-१

(९६१)

उपादान-निमित्त संबंधी सम्यग्ज्ञान के अभाव में या तो निमित्त को कर्त्ता मान लिया जाता है या फिर उसकी सत्ता से ही इन्कार किया जाने लगता है। पृष्ठ-२

(९६२)

जगत का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थों के इस परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। इस परिणमन को ही कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। पृष्ठ-२

(९६३)

प्रत्येक कार्य नियमरूप से उपादेय भी है और नैमित्तिक भी है, उपादान की अपेक्षा उपादेय है और निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक है। पृष्ठ-३

(९६४)

शक्ति दो प्रकार की होती है — द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य। नित्यशक्ति के

आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्यायशक्ति को ही कार्य का नियामक स्वीकार किया गया है।

द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यंह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा। अतः न तो द्रव्य शक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है, पर काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय ही है। यह पर्यायशक्ति अनन्तरपूर्व क्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। इसीलिये क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है।

पृष्ठ-७-८

(९६५)

यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा। पृष्ठ-८

(९६६)

धर्मद्रव्यरूप निमित्त सदा विद्यमान है, तो क्या इसके आधार पर जीव और पुद्गलों को निरन्तर चलते रहना चाहिये। इसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी सदा विद्यमान रहता है, तो क्या जीव और पुद्गलों को निरन्तर स्थित भी रहना चाहिये। यह संभव भी कैसे होगा; क्योंकि गमन और स्थिति के निमित्तों के सदा विद्यमान रहने पर जीव और पुद्गल चलेंगे या ठहरेंगे ? परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली होने से चलना और ठहरना दोनों क्रियायें एक साथ तो सम्भव नहीं हैं।

अतः सहजरूप से तो यही सिद्ध होता है कि सभी जीव और पुद्गल अपनी क्षणिक उपादानगत योग्यता के अनुसार चलते व ठहरते हैं और जब-जब वे अपनी योग्यतानुसार चलते व ठहरते हैं, तब-तब धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्तमात्र हो जाते हैं।

इसप्रकार कार्य के उत्पन्न होने के काल का नियामक कारण तो उपादानगत योग्यतारूप क्षणिक उपादान ही रहा; न तो त्रिकाली उपादान ही और न निमित्त ही। पृष्ठ-११-१२

(९६७)

तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान काल का नियामक है। जिस द्रव्य या गुण में जिस समय जिस कार्यरूप परिणमित होने की पर्यायगत योग्यता होती है; वह द्रव्य या वह गुण उसी समय, उसी कार्यरूप परिणमित होता है।

चूंकि कार्य का दूसरा नाम पर्याय अर्थात् काल भी है, यही कारण है कि काल के नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक भी कहा जाता है। पृष्ठ-१२

(९६८)

आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिये। 'निमित्त नहीं होता — यह कौन कहता है ? पर निमित्तों को खोजना भी नहीं पड़ता है। जब उपादान में कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त होता ही है। पृष्ठ-१६

(९६९)

न तो निमित्त उपादन में बलात् कुछ करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों को बलात् लाता या मिलाता है। दोनों का सहज ही सम्बन्ध होता है। पृष्ठ-१७

(९७०)

यह भगवान आत्मा अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्यायों एवं रागादिरूप विकारी पर्यायों के रूप में अपनी-अपनी स्वसमय की योग्यतानुसार स्वयं ही परिणमित होता है, उसमें पर (निमित्त) का कोई हस्तक्षेप नहीं है।

हाँ, यह अवश्य है कि जब यह आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों या रागादि विकारीपर्यायों के रूप में अपनी स्वभावगत एवं पर्यायगत योग्यता के अनुसार परिणमित होता है; तब तदनुकूल निमित्ति भी होते ही हैं। इसलिये यह कथन भी असत्य नहीं है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता, पर यह कथन निमित्त की अनिवार्य उपस्थित मात्र को ही बताता है, इससे अधिक कुछ

भी नहीं है। ध्यान रहे कि निमित्त की अनिवार्य उपस्थिति मात्र से उसे कर्त्ता या साधकतम करण नहीं माना जा सकता। पृष्ठ-१९

(९७१)

निमित्त चाहे अंतरंग हो या बहिरंग, पर हैं तो वे निमित्त ही, कार्य की उत्पत्ति में सभी निमित्तों की स्थिति लगभग एक समान ही है; अत: कोई भी निमित्त कर्त्ता या साधकतमकरण नहीं हो सकता है। पृष्ठ-२०

(९७२)

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'स्वयमेव परिणमन्ते' पद द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान की योग्यतानुसार स्वयं ही परिणमित होता है, उसके परिणमन में अन्य पदार्थ तो मात्र निमित्त ही होते हैं। पृष्ठ-२१

(९७३)

आशय यह है कि उपादान में कार्यरूप परिणमने की योग्यता होने पर वह स्वयं कार्यरूप परिणमता है और बाह्यसामग्री उसमें उसी समय निमित्त होती है; क्योंकि निमित्तपने को प्राप्त हुई बाह्यसामग्री और उपादानभूत द्रव्य के कार्य में नियम से बाह्यव्याप्ति होती है, इसी को काल-प्रत्यासत्ति कहते हैं।

यदि बाह्यसामग्री में कारणता भूतार्थ मानी जाय तो जैसे शुक अपनी सहज योग्यतावश बाह्यसामग्री के सद्भाव में पढ़ने लगता है; उसीप्रकार सहज योग्यता के अभाव में भी बाह्यसामग्री के बल से बक को भी पढ़ लेना चाहिये; किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी बाह्यनिमित्त के बल से बक नहीं पढ़ सकता और शुक पढ़ लेता है। इससे मालूम पड़ता है कि बाह्यसामग्री तो कार्य में निमित्तमात्र है; जो भी कार्य होता है, वह द्रव्य में पर्यायगत योग्यता के प्राप्त होने पर ही होता है। पृष्ठ-२२

(९७४)

निष्कर्षरूप में यह समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य नित्यता के साथ स्वयं परिणामस्वभावी होने से अपना कार्य स्वयं ही करता है — यह यथार्थ है। कार्य के होने में जो निमित्तता स्वीकार की गई है; वह असद्भूत व्यवहारनय से ही स्वीकार की गई है, परमार्थ से नहीं। पृष्ठ-२३

(९७५)

जिनवाणी का गहराई से अध्ययन नहीं करना ही तात्त्विक विवादों का मूल कारण है। अतः तात्त्विंक विवादों से बचने का एकमात्र उपाय जिनवाणी का गहराई से स्वाध्याय करना ही है। न केवल तात्त्विक विवादों के सुलझाने के लिये, अपितु आत्मकल्याण के लिये भी प्राथमिक स्थिति में जिनवाणी ही परमशरण है। पृष्ठ-२३

द्वितीय खण्ड

निमित्तोपादान : कुछ प्रश्नोत्तर

(९७६)

यद्यपि यह सत्य है कि कार्य के बिना किसी को कारण कहना संभव नहीं है, पुत्र के बिना किसी को पिता कहना संभव नहीं है; तथापि कार्य के पूर्व कारण की सत्ता से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि पुत्र होने के पूर्व भी पिता की सत्ता तो थी ही, भले ही उसे पिता कहना संभव न हो। पृष्ठ-२५

(९७७)

जब किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; तब उपदेश की प्राप्तिरूप निमित्त नियम से उसके पूर्व ही होता है, उस समय नहीं। इसी से साबित होता है कि उपदेशरूप निमित्तकारण तो कार्य होने से पहले ही होता है, उस समय नहीं; भले ही उसे कारण आप तब कहें कि जब कार्य हो जाय। पृष्ठ-२५

(९७८)

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अन्य कार्यों के समान सम्यग्दर्शनरूप कार्य के निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं — अंतरंग और बहिरंग। अंतरंगनिमित्त तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशमरूप अभाव है और बहिरंगनिमित्त है उपदेश की प्राप्ति। अंतरंग निमित्त तो कार्योत्पत्ति के काल में ही विद्यमान है; पर देशनालब्धिरूप बाह्यनिमित्त पहले ही हो चुका है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसके अनुसार अंतरंग

और बहिरंग दोनों ही निमित्त कारणों का कार्योत्पत्ति के काल में उपस्थित रहना अनिवार्य ही हो। पृष्ठ-२५

(९७९)

वस्तुतः बात यह है कि ऐसा तो नियम है कि जब किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी तो उसके पूर्व उसे देशनालब्धि की प्राप्ति भी अवश्य होगी ही; पर ऐसा नियम नहीं है कि देशनालब्धि हो जाने पर नियम से सम्यग्दर्शन होगा ही। यही कारण है कि देशनालब्धिरूप कारण पहले से विद्यमान होने पर भी उसका कथन कार्योत्पत्ति के बाद ही किया जाता है। पृष्ठ-२६

(९८०)

सामान्य से तो तीर्थंकरों, साधु-संतों एवं ज्ञानियों के उपदेश एवं जिनबिम्ब दर्शन आदि को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा ही जाता है और कहा भी जाना चाहिये; पर वह कारण है किसको, उसी को न कि जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई हो। इसलिए जब उनके निमित्त से किसी व्यक्ति विशेष को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; तब उस सम्यग्दर्शनरूप कार्य का कारण उनके उपदेश को कहा जाता है। सामान्य और विशेष कथन में यह अन्तर पड़ता ही है। पृष्ठ-२६

(९८१)

जिसके उपादान की जोरदार तैयारी हो, उसके लिये वेश्या भी वैराग्य का निमित्त बन जाती है। ऐसी घटनाओं से वेश्यारूप निमित्त की महिमा नहीं आना चाहिये, अपितु उपादान की विशेषता समझ में आना चाहिये, क्षणिक उपादान की महिमा आना चाहिये। पृष्ठ-२७

(९८२)

वस्तुतः कार्य तो उपादान की पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही सम्पन्न होता है; निमित्त की तो मात्र अनुकूलता के रूप से उपस्थिति ही रहती है। पृष्ठ-२८

(९८३)

प्रश्न : आप ही तो कहते हो कि यदि अपना कल्याण करना है तो आत्मा को जानो, पहिचानो और उसी में जम जावो, रम जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है। इसमें निमित्त-उपादान समझने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : आत्मा का कल्याण भी एक कार्य है, अपने को जानना-पहिचानना भी एक कार्य है, अपने में जमना-रमना भी एक कार्य है; और कोई भी कार्य कारण के बिना सम्पन्न नहीं होता। निमित्त और उपादान कारणों के ही प्रकार हैं। अत: आत्मकल्याण के लिये, अपने को जानने-पहिचानने के लिये, अपने में जमने-रमने के लिये उनका स्वरूप अच्छी तरह जानना अत्यन्त आवश्यक है।

निमित्त और उपादान का सही स्वरूप नहीं समझने के कारण आत्मकल्याणरूप कार्य करने के लिये भी यह आत्मा परपदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से पर की ओर ही झाँका करता है; स्वयं की ओर देखता तक नहीं। अत: यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि अपने आत्मा के कल्याण का कार्य तो स्वयं के आश्रय से, स्वयं की पात्रता से, स्वयं में ही सम्पन्न होता है; परपदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होते हैं।

जब द्रव्यस्वभाव में पर्यायगत पात्रता का परिपाक होता है तो निमित्त भी सहज ही उपस्थित रहते हैं। अत: निमित्तों पर से दृष्टि हटाकर त्रिकाली उपादान, जो कि निज त्रिकाली ध्रुव परमात्मा है; उस पर दृष्टि को केन्द्रित करना ही आत्मानुभव का मार्ग है।

यह कार्य भी पर्यायगत योग्यता के सद्भाव में सहजभाव से ही सम्पन्न होता है; इसके लिये भी आकुलित होने से कोई कार्य नहीं होता; प्रत्येक कार्य स्वसमय में स्वयं की योग्यतारूप उपादानकारण से ही सम्पन्न होता है और जब कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त भी होते ही हैं, उन्हें खोजने नहीं जाना पड़ता।

इसप्रकार आत्मकल्याणरूप कार्य में निमित्त-उपादान की संधि का सम्यक्ज्ञान हो जाने पर दृष्टि परपदार्थों से हटकर स्वभावसम्मुख होती है और

आत्मानुभूति प्रगट होती है। आत्मानुभूति के काल में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्तिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। पृष्ठ-२९-३०

(९८४)

जिसप्रकार माँ-बाप की खोज के बिना ही प्रत्येक मानव को जन्म के काल में अपनी योग्यतानुसार माँ-बाप उपलब्ध रहते ही हैं; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को आत्मानुभूति के काल में या उसके पूर्व में सुयोग्य निमित्त सहजभाव से उपलब्ध रहते ही हैं, उन्हें खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। पृष्ठ-३०-३१

(९८५)

महावीर के जीव की शेर की पर्याय में जब पात्रता पकी तो निमित्तरूप में युगल मुनिराज सहजभाव से उपस्थित ही थे। उनका संयोग मिलाने के लिये शेर ने क्या प्रयत्न किया था ? ज्ञानियों के सम्पर्क में जीवनभर निरन्तर रहनेवाले लोग क्या सभी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं ? पृष्ठ-३१

(९८६)

जीवनभर सत्समागम में रहने पर भी आत्मलाभ की प्राप्ति नहीं हुई — इसका भी एकमात्र यही कारण है कि उनकी दृष्टि सत्समागम पर ही रही, स्वभाव के सन्मुख नहीं हुई। अत: सत्समागम में रहना तो अच्छा है, पर उसके लिये भी व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं है। जिसका जितना महत्त्व है, हमें उतना अवश्य स्वीकार करना चाहिये; पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिसप्रकार सत्समागम के महत्त्व को अस्वीकार करने में हानि है, उससे अधिक हानि उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने में है। पृष्ठ-३१-३२

(९८७)

वास्तविक सत् तो अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है, उसके समागम में ही सत् का लाभ होनेवाला है। उसकी संगति ही वास्तविक सत्संगति है। हमारी श्रद्धा का श्रद्धेय (दृष्टि का विषय) ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय तो त्रिकाली सत् निज भगवान आत्मा ही बनना चाहिये।

उस त्रिकाली ध्रुवरूप सत् का स्वरूप बतानेवाले ज्ञानी धर्मात्मा ही सत्पुरुष कहलाते हैं। उनकी संगति को भी सत्संगति कहते हैं। बाकी पुण्य-पाप के प्रपंच में उलझे हुए लोग न तो सत्पुरुष हैं और न उनकी संगति सत्संगति ही है। पृष्ठ-३२

(९८८)

मात्र उनकी सेवा-टहल करते रहने को तो व्यवहार से भी सत्संगति नहीं कहा जा सकता है। पृष्ठ-३२

(९८९)

सत्पुरुष की सच्ची पहिचान ही यही है कि जो त्रिकाली ध्रुवरूप निज परमात्मा का स्वरूप बताये और उसी के शरण में जाने की प्रेरणा दे, वही सत्पुरुष है। दुनियादारी में उलझानेवाले, जगत के प्रपंच में फंसानेवाले पुरुष कितने ही सज्जन क्यों न हों, सत्पुरुष नहीं हैं — इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पृष्ठ-३४

(९९०)

भव का अन्त लाना हो तो निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव का आश्रय लो और उसका स्वरूप समझानेवाले, उसी में जम जाने और रम जाने की प्रेरणा देनेवाले सत्पुरुष की संगति करो, समागम करो, शरण में जावो; यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। पृष्ठ-३४

(९९१)

त्रिकाली सत् की रुचि में सत्पुरुष की खोज की प्रक्रिया सहज ही सम्पन्न होती है, व्यग्रता से कुछ नहीं होता। आत्महित का मार्ग तो सहज का धंधा है। सत्पुरुष की शोध भी सहज और त्रिकाली ध्रुव की अनुभूति-प्रतीति भी सहज; सबकुछ सहज ही सहज है। पृष्ठ-३६

(९९२)

आत्मरुचि भगवान आत्मा और आत्मज्ञ सत्पुरुष की शोध की ओर पुरुषार्थ को प्रेरित करती है। सत्पुरुष के समागम से आत्मरुचि को अभूतपूर्व बल प्राप्त

होता है; अध्ययन, मनन, चिन्तन की प्रक्रिया पर से विमुख हो स्वोन्मुख हो जाती है। रुचि की तीव्रता और पुरुषार्थ की प्रबलता दृष्टि को स्वभावसन्मुख तो करती ही है, ज्ञान व ध्यानपर्याय को भी आत्मोन्मुख करती है और यह निमित्त-उपादान का सहज सुमेल देशनालब्धि से करणलब्धि की ओर ढलता हुआ सम्यग्दर्शन पर्याय प्राप्त करने की सशक्त भूमिका तैयार कर देता है।

पृष्ठ-३६-३७

(९९३)

सद्गुरु की उपलब्धि और उसके उपदेश की प्राप्ति के उपरान्त भी जबतक करणलब्धि के परिणामों की पात्रता नहीं पकती; तबतक अध्ययन, मनन, चिन्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। यह काल अन्तर्मुहूर्त भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है; पर यह सबकुछ बिना तनाव के अत्यन्त सहजभाव से चलता रहता है और सहजभाव से ही चलते रहना चाहिये; क्योंकि मुक्ति का मार्ग शान्ति का मार्ग है, तनाव का नहीं, व्यग्रता का नहीं।

पृष्ठ-३७

(९९४)

निमित्त 'पर' है, उस पर दृष्टि रखने से दृष्टि पराधीन होती है। त्रिकाली उपादानरूप निज भगवान आत्मा 'स्व' है, उस पर दृष्टि रखने से दृष्टि स्वाधीन होती है। पराधीनता ही दुःख है और स्वाधीनता ही सुख है; अतः सुखार्थी को तो स्वाधीनता ही श्रेयस्कर है। पृष्ठ-३७

(९९५)

आत्मानुभूति के लिये सन्नद्ध होने के पूर्व एवं आत्मानुभूति के बाद शुभोपयोग में आने पर गुरु का स्मरण सम्भव है, पर आत्मानुभूति के काल में तो कदापि नहीं। पृष्ठ-३९

(९९६)

जबतक त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनेगा, ध्यान का ध्येय नहीं बनेगा, श्रद्धान का श्रद्धेय नहीं बनेगा; तबतक आत्मानुभूति

होनेवाली नहीं है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनेवाली नहीं है; संवर होनेवाला नहीं है, धर्म का प्रारम्भ होनेवाला नहीं है। पृष्ठ-४०

(११७)

धर्म के आरम्भ करने की विधि ही यह है कि पहले गुरुपदेशपूर्वक विकल्पात्मक क्षयोपशमज्ञान में निजशुद्धात्मतत्व का स्वरूप समझे, सम्यक् निर्णय करे; उसके उपरान्त गुरु आदि समस्त परपदार्थों से उपयोग हटाकर उपयोग को आत्मसन्मुख करे और आत्मा में ही तन्मय हो जावे। यह आत्मतन्मयता ही आत्मानुभूति का उपाय है, आत्मानुभूति है; यही धर्म का आरम्भ है, यही संवर है। निरन्तर वृद्धिंगत यह आत्मस्थिरता ही निर्जरा है और अनन्तकाल तक के लिये आत्मा में ही समा जाना ही वास्तविक मोक्ष है, जो अनन्तसुखस्वरूप है और प्राप्त करने के लिये एकमात्र परम-उपादेय है।

पृष्ठ-४०

(११८)

यह कहना तो एकदम सत्य है कि जबतक किसी कार्य की उपयोगिता और लाभ स्पष्ट नजर नहीं आते; तबतक उस कार्य में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती और उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति के बिना कार्य में सफलता भी प्राप्त नहीं होती।

अतः निमित्त-उपादन के जानने की उपयोगिता और उनके जानने से होनेवाले लाभों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। पृष्ठ-४१-४२

(११९)

प्रत्येक प्राणी के माथे पर सर्वाधिक बोझा कर्त्तृत्वबुद्धि का है। कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त यह प्राणी निरन्तर कुछ न कुछ करता ही रहता है, करता ही रहना चाहता है और यह समझता है कि यदि मैं यह सब करना बन्द कर दूँ तो न मालूम क्या हो जायेगा? मानो सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

इस कर्त्तृत्व के बोझ के नीचे प्रत्येक प्राणी दबा जा रहा और निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। इसे यह विचारने की फुर्सत नहीं है कि जिस बोझ से मैं दबा जा रहा हूँ, वह बोंझा वास्तविक है या कोरी कल्पनामात्र है।

निमित्त-उपादान का स्वरूप समझने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का ही कर्त्ता है, अन्य पदार्थों के परिणमन में तो वह मात्र निमित्त ही होता है, करता-धरता कुछ भी नहीं है। इसप्रकार उसके माथे से पर के कर्तृत्व का बड़ा भारी बोझा सहज ही उतर जाता है और वह अपने-आप में बहुत हल्कापन अनुभव करता है।

इसीप्रकार जब वह यह जान लेता है कि मेरे भले-बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा ही है; मेरे परिणमन में परपदार्थ तो निमित्तमात्र हैं; उनका कोई भी हस्तक्षेप मेरे में नहीं होता तो इस आत्मा का अनन्त भय तो समाप्त हो ही जाता है; दूसरों के प्रति होनेवाला द्वेषभाव भी कम हो जाता है, समाप्त-सा ही हो जाता है; क्योंकि दूसरे पदार्थों से द्वेष तो इसकारण ही होता था कि यह समझता था कि इसने मेरा बुरा किया है। जब इसने जान लिया कि मेरे बुरे होने में इसका रंचमात्र भी योगदान नहीं है तो सहजभाव से ही उसके प्रति द्वेष समाप्त हो जाता है।

इसीप्रकार जब यह जान लिया जाता है कि कोई परपदार्थ मेरा भला भी नहीं करता है, न ही कर सकता है तो फिर परपदार्थों के साथ रागभाव भी नहीं होता। परपदार्थों से राग-द्वेष होने के पीछे मूल कारण तो यह मूढ़भाव-मिथ्यात्व होता है कि मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ, करता हूँ या परपदार्थ मेरा भला-बुरा कर सकते हैं, करते हैं। पृष्ठ-४२

(१०००)

यह मूढ़भाव ही अनन्त आकुलता का कारण है। निमित्त-उपादान का सच्चा स्वरूप समझ में आ जाने से यह मूढ़भाव समाप्त हो जाता है और फिर उस मूढ़भाव से होनेवाली आकुलता भी नहीं होती। पृष्ठ-४३

(१००१)

प्रश्न : मूढ़भाव अर्थात् मिथ्यात्व तो आत्मानुभूति के बिना समाप्त नहीं होता — ऐसा कहा जाता है; पर यहाँ आप कह रहे हैं कि निमित्त-उपादान की सच्ची समझ से ही मूढ़भाव समाप्त हो जाता है ?

उत्तर : निमित्त-उपादान का स्वरूप समझने से निमित्ताधीन दृष्टि समाप्त हो जाती है। दृष्टि निमित्तों पर से हटकर त्रिकाली उपादानरूप निजस्वभाव की ओर ढलती है। निजस्वभाव ही तो भंगवान आत्मा है और भगवान आत्मा की ओर ढलती हुई दृष्टि ही आत्मानुभूति की पूर्ववर्ती प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से पार होती हुई ज्ञानपर्याय जब त्रिकालीध्रुव निजभगवान आत्मा को सीधी (प्रत्यक्ष) ज्ञेय बना लेती है, तभी आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है और उसीसमय मूढ़भाव-मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है।

अत: यह कहना असंगत नहीं है कि निमित्त-उपादान की सच्ची समझ में मूढ़भाव-मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है।

इसप्रकार आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मूल उपाय निमित्त-उपादान संबंधी सच्ची समझ ही है। अत: इनका स्वरूप समझने में आलस नहीं करना चाहिये, कठिन कहकर उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये; अपितु पूरी शक्ति लगाकर इन्हें समझने का प्रयास करना चाहिये। पृष्ठ-४३

(१००२)

आध्यात्मिक लोग कोई अलग नहीं होते, उनके अलग गांव नहीं बसे हैं; जो लोग सच्चा सुख चाहते हैं, शान्ति के इच्छुक हैं, अपनी आत्मा को जानना-पहिचानना चाहते हैं, इस दिशा में प्रयत्नशील हैं, सक्रिय हैं, सज्जन हैं; वे सभी आध्यात्मिक ही हैं।

'हम और आप साधारण नहीं हैं, सभी आत्मार्थी हैं, स्वयं भगवान हैं। स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही; पर्याय में भी अल्पकाल में ही दो-चार भवों में ही भगवान बननेवाले हैं।' पृष्ठ-४४

***

कुन्दकुन्द शतक

जो जानता मैं शुद्ध हूँ, वह शुद्धता को प्राप्त हो।
जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो॥ ९॥

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

गागर में सागर

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ४४ पर प्रवचन

(१००३)

मेरा आत्मा अर्थात् मैं। मैं ही पूर्ण अमल हूँ, मैं ही पूर्ण शुद्ध हूँ, रागादि विकारी भाव मेरे स्वभाव में नहीं हैं, मैं रागादि विकारी भाव रूप नहीं हूँ।

पृष्ठ-१८

(१००४)

यद्यपि फोड़ा देह में ही पैदा होता है; पर वह देह तो नहीं होता, उसे देह तो नहीं माना जाता; क्योंकि वह देह की विकृति है। इसीप्रकार ये रागादि भाव आत्मा में पैदा होकर भी आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि ये आत्मा की विकृतियाँ हैं।

पृष्ठ-१८

(१००५)

आत्मा को यहाँ 'निर्मल' न कहकर 'ममल' कहा है। ममल अर्थात् अमल। जिसका मल निकल गया हो, उसे निर्मल कहते हैं और जिसमें मल हो ही नहीं, उसे अमल कहते हैं। अरहंत और सिद्ध भगवान निर्मल हैं और त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा अमल है।

पृष्ठ-१९

(१००६)

भूल तो एक न एक दिन मिट जानेवाली है और मैं तो अनादि-अनन्त अमिट पदार्थ हूँ। अमिट आत्मा मिटनेवाली भूलस्वरूप कैसे हो सकता है ?

पृष्ठ-१९

(१००७)

यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि अभी जिस समय गलतियाँ हो रही हैं, उसी समय आत्मा गलतियों से रहित अमल है।

पृष्ठ-१९

(१००८)

आत्मा तो सदा ही अमल है, वह तो कभी मलिन होता ही नहीं है ।मलिनता मात्र पर्याय में होती है, पर भगवान आत्मा तो पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है।

पृष्ठ-२०

(१००९)

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है।

पृष्ठ-२०

(१०१०)

देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न अमल, अखण्ड, आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, ध्येय, ज्ञेय, श्रद्धेय चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं हूँ।

पृष्ठ-२१

(१०११)

ध्यान रहे पर का और अशुद्ध का ध्यान करने से अशुद्धता की उत्पत्ति होती है और निज का तथा शुद्ध का ध्यान करने से शुद्धता की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार शुद्धता की उत्पत्ति के लिए दो आवश्यक शर्तें हो गईं। शुद्धता की उत्पत्ति के लिए एक तो निज का ध्यान करना आवश्यक है और दूसरे शुद्ध का। अतः यदि निज और शुद्ध एक ही नहीं हुए तो फिर शुद्धता की उत्पत्ति संभव नहीं रहेगी।

पृष्ठ-२१

(१०१२)

निजत्व बिना सर्वस्व समर्पण नहीं होता। पर-परमात्मा चाहे कितना ही महान क्यों न हो, उसमें सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है, उचित भी नहीं है। सर्वस्व समर्पण तो निज परमात्मा में ही संभव है, आवश्यक भी यही है।

पृष्ठ-२१-२२

(१०१३)

पर-परमात्मा को पराये अच्छे बेटे की तरह मात्र प्रशंसा तक ही सीमित रखो, स्तुति-वन्दना तक ही सीमित रखो और अपने आत्मा को सर्वस्व समर्पण कर दो।

पृष्ठ-२२

(१०१४)

ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेष भी हो सकते हैं, होते भी हैं; पर श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेषादि भावों से भिन्न ही होता है। ज्ञान आत्मा के स्वभाव एवं स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों को भी जानता है; पर श्रद्धा मात्र स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित करती है, एकत्व स्थापित करती है। अतः श्रद्धा का आत्मा मात्र स्वभावमय ही है। पृष्ठ-२४

(१०१५)

जो अपना नहीं है, उससे हम कितना ही राग क्यों न करें, राग करने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता। जो अपना है, उससे हम कितना ही द्वेष क्यों न करें, द्वेष करने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता। जो अपना है सो अपना है, जो पराया है सो पराया है। इसीप्रकार जो अपना है, उसे पराया मानने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता; जो पराया है, उसे अपना मानने मात्र से अपना नहीं हो जाता; क्योंकि जो अपना है, वह त्रिकाल अपना है; जो पराया है, वह त्रिकाल पराया है। पृष्ठ-२४-२५

(१०१६)

अनादि काल से हमने देहादि परपदार्थों को अपना माना और निज भगवान आत्मा को अपना नहीं माना, पर न तो आजतक देहादि परपदार्थ अपने हुए और न भगवान आत्मा ही पराया हुआ। पृष्ठ-२५

(१०१७)

देहादि परपदार्थ तो अपने हैं ही नहीं; पर उन्हें अपना जाननेवाला हमारा ज्ञान, अपना माननेवाली हमारी श्रद्धा और उनमें राग-द्वेष करनेवाला चारित्र गुण का परिणमन भी मैं नहीं हूँ। यद्यपि ज्ञान जानता है कि ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम अपनी ही विकारी पर्याय हैं, तथापि श्रद्धा उन्हें स्वीकार नहीं करती। अतः ज्ञान की अपेक्षा वे अपने हैं और श्रद्धा की अपेक्षा अपने नहीं हैं। श्रद्धा का श्रद्धेय तो अमल आत्मा ही है। श्रद्धा का हिसाब अलग है और ज्ञान का हिसाब अलग। पृष्ठ-२५

(१००८)

आत्मा तो सदा ही अमल है, वह तो कभी मलिन होता ही नहीं है।मलिनता मात्र पर्याय में होती है, पर भगवान आत्मा तो पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है। पृष्ठ-२०

(१००९)

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। पृष्ठ-२०

(१०१०)

देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न अमल, अखण्ड, आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, ध्येय, ज्ञेय, श्रद्धेय चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं हूँ। पृष्ठ-२१

(१०११)

ध्यान रहे पर का और अशुद्ध का ध्यान करने से अशुद्धता की उत्पत्ति होती है और निज का तथा शुद्ध का ध्यान करने से शुद्धता की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार शुद्धता की उत्पत्ति के लिए दो आवश्यक शर्तें हो गईं। शुद्धता की उत्पत्ति के लिए एक तो निज का ध्यान करना आवश्यक है और दूसरे शुद्ध का। अतः यदि निज और शुद्ध एक ही नहीं हुए तो फिर शुद्धता की उत्पत्ति संभव नहीं रहेगी। पृष्ठ-२१

(१०१२)

निजत्व बिना सर्वस्व समर्पण नहीं होता। पर-परमात्मा चाहे कितना ही महान क्यों न हो, उसमें सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है, उचित भी नहीं है। सर्वस्व समर्पण तो निज परमात्मा में ही संभव है, आवश्यक भी यही है। पृष्ठ-२१-२२

(१०१३)

पर-परमात्मा को पराये अच्छे बेटे की तरह मात्र प्रशंसा तक ही सीमित रखो, स्तुति-वन्दना तक ही सीमित रखो और अपने आत्मा को सर्वस्व समर्पण कर दो। पृष्ठ-२२

(१०१४)

ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेष भी हो सकते हैं, होते भी हैं; पर श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेषादि भावों से भिन्न ही होता है। ज्ञान आत्मा के स्वभाव एवं स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों को भी जानता है; पर श्रद्धा मात्र स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित करती है, एकत्व स्थापित करती है। अत: श्रद्धा का आत्मा मात्र स्वभावमय ही है। पृष्ठ-२४

(१०१५)

जो अपना नहीं है, उससे हम कितना ही राग क्यों न करें, राग करने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता। जो अपना है, उससे हम कितना ही द्वेष क्यों न करें, द्वेष करने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता। जो अपना है सो अपना है, जो पराया है सो पराया है। इसीप्रकार जो अपना है, उसे पराया मानने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता; जो पराया है, उसे अपना मानने मात्र से अपना नहीं हो जाता; क्योंकि जो अपना है, वह त्रिकाल अपना है; जो पराया है, वह त्रिकाल पराया है। पृष्ठ-२४-२५

(१०१६)

अनादि काल से हमने देहादि परपदार्थों को अपना माना और निज भगवान आत्मा को अपना नहीं माना, पर न तो आजतक देहादि परपदार्थ अपने हुए और न भगवान आत्मा ही पराया हुआ। पृष्ठ-२५

(१०१७)

देहादि परपदार्थ तो अपने हैं ही नहीं; पर उन्हें अपना जाननेवाला हमारा ज्ञान, अपना माननेवाली हमारी श्रद्धा और उनमें राग-द्वेष करनेवाला चारित्र गुण का परिणमन भी मैं नहीं हूँ। यद्यपि ज्ञान जानता है कि ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम अपनी ही विकारी पर्याय हैं, तथापि श्रद्धा उन्हें स्वीकार नहीं करती। अत: ज्ञान की अपेक्षा वे अपने हैं और श्रद्धा की अपेक्षा अपने नहीं हैं। श्रद्धा का श्रद्धेय तो अमल आत्मा ही है। श्रद्धा का हिसाब अलग है और ज्ञान का हिसाब अलग। पृष्ठ-२५

(१०१८)

आत्मा से यदि हमने अपनत्व नहीं किया तो वह अपना नहीं रहा हो— यह तो संभव नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आत्मा में अपनत्व होने का जो लाभ होना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया। हानि मात्र इतनी ही हुई है।

पृष्ठ-२६

(१०१९)

जिसमें कुछ बिगड़ता ही नहीं — ऐसा भगवान आत्मा मैं आज भी विद्यमान हूँ। जो बिगड़ गया, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ, जिसमें बिगाड़-सुधार का प्रवेश ही संभव नहीं है। बिगाड़-सुधार पर्याय में होता है और मैं तो बिगाड़-सुधाररूप पर्याय से पार अनादि-अनन्त अखण्ड चैतन्य तत्त्व हूँ।

पृष्ठ-२६

(१०२०)

आत्मा की जिस पर्याय में राग होता है, वह पर्याय ही अगले समय में व्यय हो जाती है। स्वभाव में तो विकार का प्रवेश भी नहीं होता। पृष्ठ-२७

(१०२१)

आत्मा कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं, मात्र उसे अशुद्ध माना गया है। अतः आत्मा में कुछ करने को रह ही नहीं जाता है। "मैं मलिन हूँ, अशुद्ध हूँ" — मात्र यह मान्यता ही समाप्त करनी है, इसके समाप्त होते ही इस जीव के सारे दुःख समाप्त समझो। पृष्ठ-२८

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ५९ पर प्रवचन

(१०२२)

समस्त ज्ञान का जो सार है, वही ज्ञानसमुच्चयसार है। द्वादशांग वाणी में जो आत्महितकारी बात कही गई है, वह बात ही इस ज्ञानसमुच्चयसार ग्रन्थ में भी कही गई है। पृष्ठ-२९

(१०२३)

एक प्रकार से समयसार का दूसरा नाम ही ज्ञानसमुच्चयसार है। जिस त्रिकाली ध्रुव परमात्मा की बात समयसार में मुख्यरूप से कही गई है, उसी

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात इस ज्ञानसमुच्चयसार में भी मुख्यरूप से कही गई है। पृष्ठ-२९

(१०२४)

यह भगवान आत्मा ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार है। द्वादशांग का प्रतिपाद्य एकमात्र भगवान आत्मा ही है। पृष्ठ-३०

(१०२५)

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ नहीं हो जाता, सोना ही रहता है; उसीप्रकार मोह-राग-द्वेषादि विकारों के मध्य स्थित आत्मा भी विकाररूप या विकारी नहीं हो जाता, शुद्ध ही रहता है। पृष्ठ-३१

(१०२६)

जड़ के संयोगों में पड़ा भगवान आत्मा जड़ नहीं हो जाता, अपितु सर्वज्ञस्वभावी ही रहता है। जिसप्रकार एकक्षेत्रावगाही होने पर भी स्वर्ण पीतल नहीं हो जाता; उसीप्रकार एकक्षेत्रावगाही रहने पर भी जड़ शरीर चेतन नहीं हो जाता और सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा जड़ नहीं हो जाता। पृष्ठ-३१

(१०२७)

भगवान आत्मा को नहीं समझने के कारण भगवान आत्मा में कोई हानि नहीं होती, अपितु उसे नहीं समझनेवाली पर्याय ही अज्ञानरूप रहती है, मिथ्याज्ञानरूप रहती है। पृष्ठ-३२

(१०२८)

मात्र एक समय की अवस्थारूप मिथ्यात्व को अनादिकालीन मानकर हम आतंकित हो गये हैं, निराश हो गये हैं; पर निराश होने की कोई बात ही नहीं है। हमें वर्तमान एक समय मात्र के मिथ्यात्व से ही लड़ना है, निबटना है। पृष्ठ-३४

(१०२९)

मात्र अपने को जानना है, पहिचानना है। सब-कुछ अपने में ही करना है, पर में कुछ भी नहीं करना है। स्वयं में सिमटना ही सबसे बड़ा कार्य है, मिथ्यात्व के नाश का एकमात्र उपाय है। पृष्ठ-३५

(१०३०)

अन्दर में पात्रता हो तो भाषा कोई समस्या नहीं है। पात्रता ही पवित्रता की जननी है। पृष्ठ-३७

(१०३१)

आत्मा के अनुभव की बात ही मुख्य है। जिस प्रवचनकार के प्रवचन में आत्महित की प्रेरणा न हो, आत्मानुभव करने पर बल न हो; वह जिनवाणी का प्रवचनकार ही नहीं है। सीधी सरल भाषा में भगवान आत्मा की बात समझाना, भगवान आत्मा के दर्शन करने की प्रेरणा देना, अनुभव करने की प्रेरणा देना, आत्मा में ही समा जाने की प्रेरणा देना ही सच्चा प्रवचन है। पृष्ठ-३७-३८

(१०३२)

प्रवचन करने का प्रयोजन पांडित्य-प्रदर्शन नहीं, अपितु आत्महितकारी तत्त्व की बात जन-जन तक पहुँचाना है। स्वयं आत्मानुभव में प्रवृत्त होना और एकमात्र आत्मानुभव की प्रेरणा देना ही सच्चा पांडित्य है। पृष्ठ-३८

(१०३३)

आनन्द के रसकन्द, ज्ञान के घनपिण्ड, अनन्त शक्तियों के संग्रहालय, शान्ति के सागर इस भगवान आत्मा की महिमा से हमारा चित्त इतना अभिभूत हो जाना चाहिए कि 'भगवान आत्मा' शब्द सुनते ही हम रोमांचित हो उठें, गद्गद् हो जायें। तभी समझना कि हम आत्मार्थिता की ओर बढ़ रहे हैं। पृष्ठ-३९

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ७६ पर प्रवचन

(१०३४)

ज्ञानसमुच्चयसार में कहा हुआ जो भी ज्ञान है, ज्ञान का सार है; वह सब पूर्वश्रुतज्ञान है अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा कहा हुआ और हमारा सुना हुआ ज्ञान है; अतः पूर्वश्रुतज्ञान है। संपूर्ण श्रुतज्ञान का सार होने से यह शास्त्र सचमुच ही ज्ञानसमुच्चयसार है। पृष्ठ-४२

(१०३५)

देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा ही साक्षात् परमात्मा है। — द्वादशांग वाणी का यही सार है। पृष्ठ-४४

(१०३६)

समस्त द्वादशांग का सार वास्तव में तो एक आत्मा ही है। एक आत्मा को समझाने के लिए ही तो समस्त शास्त्रों की रचना हुई है, क्योंकि एक इस भगवान आत्मा के ज्ञान बिना ही यह आत्मा अनादिकाल से संसार में भटक रहा है, अनन्त दु:ख उठा रहा है। पृष्ठ-४४

(१०३७)

यदि हम इस भगवान आत्मा को न समझ सके, इसका अनुभव न कर सके तो सब-कुछ समझकर भी नासमझ ही हैं, सब-कुछ पढ़कर भी अपढ़ ही हैं, सब-कुछ अनुभव करके भी अनुभवहीन ही हैं, सब-कुछ पाकर भी अभी कुछ नहीं पाया है — यही समझना। अधिक क्या कहें ? समझदार को इशारा ही पर्याप्त होता है। पृष्ठ-४५

(१०३८)

तेरी दृष्टि में ऐसी भेदक सामर्थ्य है कि तू चाहे तो देह की ओर देखते हुए भी देह को न देखे, उसके भीतर विराजमान भगवान आत्मा को ही देखे । जरा प्रयत्न करके देख ! पृष्ठ-४६

(१०३९)

आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है। अब आप स्वयं सोच लो कि आपको किसकी रुचि है ? हमें इस बारे में कुछ नहीं कहना है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार जहाँ हमारी रुचि होती है, हमारी संपूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं। यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी। पृष्ठ-४९

(१०४०)

हमारी दृष्टि में तो भगवान आत्मा के अतिरिक्त कोई बात अच्छी हो ही नहीं सकती। आत्मा के बिना तो धर्म की कल्पना भी संभव नहीं है।

पृष्ठ-४९

(१०४१)

हम मात्र अपने को ही नहीं, आप सबको भी भगवान बता रहे हैं। हम यहाँ अपने को ही नहीं, आप सबको भगवान कहने आये हैं। क्यों न कहें ? क्योंकि सभी आत्मा स्वभाव से तो भगवान हैं ही, यदि हम स्वयं को भगवानस्वरूप स्वीकार कर लें, जान लें, मान लें और स्वयं में ही समा जावें तो पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं। पृष्ठ-५०

(१०४२)

मेरे तो सारे नाते आतमराम सों — मेरे अर्थात् आत्मार्थी के संपूर्ण नाते आतमराम के माध्यम से ही होते हैं।

भाई ! तुलसीदासजी की रुचि थी सीता-राम में और हमारी रुचि है आतमराम में। वे कहते थे कि मेरे सारे नाते राम सों और मैं कहता हूँ कि मेरे सारे नाते आतमराम सों। पृष्ठ-५१

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ८९७ पर प्रवचन

(१०४३)

संपूर्ण ज्ञान का सार ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का ध्यान करना ही है। पृष्ठ-५३

(१०४४)

ज्ञानसमुच्चयसार अर्थात् भगवान आत्मा का ध्यान ही धर्म है।

पृष्ठ-५३

(१०४५)

सार अर्थात् पर से भिन्न, विकार से रहित, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड निज भगवान आत्मा ही ज्ञानसमुच्चयसार है, यह ज्ञानस्वभावी

ज्ञानसमुच्चयसार ही ध्यान का ध्येय है, श्रद्धान का श्रद्धेय है एवं परमज्ञान का ज्ञेय है। पृष्ठ-५४

(१०४६)

यदि पर को जानने में कोई दोष होता तो केवली भगवान पर को क्यों जानते ? वे तो सर्वज्ञ हैं न ? जो सबको जाने, उसे ही सर्वज्ञ कहते हैं। भाई ! आत्मा में एक सर्वज्ञत्व नाम की शक्ति है। समयसार में सैंतालीस शक्तियों का वर्णन आता है। उनमें ज्ञानशक्ति के साथ एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी है। अत: सबको जानना आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकता है ? पर यह ध्यान रहे कि पर में कुछ करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। पृष्ठ-५६

(१०४७)

स्व-परप्रकाशक स्वभाव का धनी यह भगवान आत्मा जब पर्याय में भी भगवान बन जाता है, तब सबको एकसाथ जानने लगता है। अत: जिसका पर को जानना स्व के जानने में बाधक नहीं है, उसे पर के जानने से मना नहीं किया जाता, पर जिसका पर को जानना स्व के जानने में बाधक है, उसे पर से उपयोग हटाकर स्व में लगाने की प्रेरणा दी जाती है। पृष्ठ-५७

(१०४८)

कोई भी पदार्थ अच्छा-बुरा नहीं होता; वह तो जैसा है, वैसा ही है। ज्ञान का काम तो उसे जैसा है, वैसा जानना है, न कि उसमें अच्छे-बुरे का भेद डालना; पर राग के जोर में ज्ञान की दिशा बदल जाती है। पृष्ठ-६०

(१०४९)

जिसप्रकार चुम्बक तेजी से फैंके गये लोहे की भी दिशा बदल देता है; उसीप्रकार यह राग का चुम्बक ज्ञान को सही निर्णय नहीं लेने देता। ज्ञान किसी वस्तु को जानने की ओर जाता है तो राग उसे अच्छे-बुरे विकल्पों की ओर मोड़ देता है, पर की रुचि उसे अपने-पराये के चक्कर में उलझा देती है। मिथ्यात्व के जोर से ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है। पृष्ठ-६०

(१०५०)

परपदार्थों का ज्ञान में सहजरूप से ज्ञात हो जाना सामान्य बात है और उन्हें बुद्धिपूर्वक जानने का प्रयत्न करना, उन्हें ही जानते रहना, उन्हें जानने में आनन्द का अनुभव करना, उन्हें जानने के लिए आकुल-व्याकुल होना अपराध है, दुःख का कारण है, संसार है। पृष्ठ-६२

(१०५१)

सच्चा जैनी तो वही है, जो इस भगवान आत्मा को जाने, पहिचाने, इसी में जम जाये, रम जाये। शेष तो सब नाममात्र के जैन हैं। मैं तो कहता हूँ कि वे पशु-पक्षी भी जैन हैं, जो भगवान आत्मा को जानते हैं, पहिचानते हैं, भगवान आत्मा की आराधना करते हैं। पशुओं में सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती भी होते हैं। पृष्ठ-६३

(१०५२)

धर्म करने के लिए जाति की कोई शर्त नहीं है, भगवान आत्मा के अनुभव करने की शर्त अवश्य है। पृष्ठ-६४

(१०५३)

जगत कुछ भी माने, पर भगवान आत्मा तो अपना ज्ञानानन्द स्वभाव छोड़नेवाला नहीं है; यदि हमें धर्म करना है, सुखी होना है, तो निज भगवान आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव को समझना ही होगा। पृष्ठ-६४

भगवान महावीर और उनकी अहिंसा

(१०५४)

जो वस्तु चली जाती है, वह लौटकर दुबारा नहीं आती। जैसे — हमारा बचपन चला गया, अब वह लौटकर नहीं आ सकता; पर वह हमारे ज्ञान में तो आ ही सकता है। पृष्ठ-६५

(१०५५)

ठीक इसीप्रकार भगवान महावीर भी, जो पच्चीस सौ दश वर्ष पूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अब इस संसार में लौटकर वापिस नहीं आ

सकते; फिर भी हमारे ज्ञान में तो आ ही सकते हैं, ध्यान में तो आ ही सकते हैं। पृष्ठ-६६

(१०५६)

आज के आदमी में मौत के प्रति वह संवेदन-शीलता नहीं रही है, जो एक जमाने में थी। भाई ! एक जमाना वह था, जब किसी मुहल्ले में यदि गाय मर जाती थी तो सारा मुहल्ला तबतक मुँह में पानी भी नहीं देता था, जबतक कि गाय की लाश न उठ जाय और एक जमाना यह है कि श्मशान में भी ठाठ से चाय चलती है। पृष्ठ-६६-६७

(१०५७)

हम महावीर को याद तो करते ही हैं, लाखों लोग उनसे ध्यान में विचरण करने की प्रार्थना तो करते ही हैं। ऐसा क्या दिया था उन्होंने हमें ? क्योंकि यह स्वार्थी जगत बिना प्रयोजन तो किसी को कभी याद करता ही नहीं है।

उन्होंने हमें कुछ ऐसे सिद्धान्त दिये थे, ऐसा मार्ग बताया था कि जिन्हें हम अपना लेवें, जिस पर हम चलें तो आज भी सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। पृष्ठ-६७-६८

(१०५८)

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान महावीर ने जो रास्ता पच्चीस सौ वर्ष पहले बताया था, हो सकता है कि वह उस युग में किसी काम का रहा हो, पर आज दुनिया बहुत बदल गयी है; कहाँ वह बैलगाड़ी का जमाना और कहाँ यह राकेटी दुनिया ? पच्चीस सौ वर्ष पुरानी बातें आज किस काम की ? अतः वे कहते हैं कि आज महावीर आउट ऑफ डेट हो गये हैं।

ऐसे लोगों से मैं कहना चाहता हूँ कि महावीर आउट ऑफ डेट नहीं, आज भी एकदम अप टू डेट हैं। पृष्ठ-६८

(१०५९)

ध्यान रहे, कोई व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट नहीं होता, अपितु अपने विचारों से होता है। पृष्ठ-६८

(१०६०)

जो व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट बनेगा, उसे एक न एक दिन आउट ऑफ डेट होना ही होगा। और कोई नहीं, स्वयं के बच्चे ही उसे आउट ऑफ डेट कर देंगे। पृष्ठ-६८

(१०६१)

यदि ड्रेस से अप टू डेट मानें तब भी भगवान महावीर आउट ऑफ डेट नहीं हो सकते, क्योंकि वे विदाउट ड्रेस थे। पृष्ठ-६९

(१०६२)

शरीर के भीतर विद्यमान भगवान आत्मा तो सबका एक जैसा ही है। भाई! जितना भेद दिखाई देता है, अन्तर दिखाई देता है, वह सब ऊपर-ऊपर का ही है; अन्तर की गहराई में जाकर देखें तो एक महान समानता के दर्शन होंगे। पृष्ठ-६९

(१०६३)

भगवान महावीर ने अहिंसा का जो उपदेश आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व दिया था, उसकी जितनी आवश्यकता आज है, उतनी महावीर के जमाने में भी नहीं थी, क्योंकि आज हिंसा ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। पृष्ठ-६९

(१०६४)

आज हिंसा इतनी खतरनाक हो उठी है, अतः भगवान महावीर की अहिंसा की आवश्यकता भी आज जितनी है, उतनी महावीर के जमाने में भी नहीं थी। भाई ! इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि महावीर आउट-ऑफ-डेट नहीं हुये हैं, अपितु एकदम अप-टू-डेट हैं। पृष्ठ-७१

(१०६५)

पहले के जमाने में युद्ध के मैदान में सिपाही लड़ते थे और सिपाही ही मरते थे; पर आज युद्ध सिपाहियों तक ही सीमित नहीं रह गया है, युद्ध मैदानों तक ही सीमित नहीं रह गया है; आज उसकी लपेट में सारी दुनिया आ गयी है। आज की लड़ाइयों में मात्र सिपाही ही नहीं मरते, किसान भी मरते हैं,

मजदूर भी मरते हैं, व्यापारी भी मरते हैं, खेत-खलियान भी बर्बाद होते हैं, कल-कारखाने भी नष्ट होते हैं, बाजार और दुकानें भी तबाह हो जाती हैं। अधिक क्या कहें, आज के इस युद्ध में अहिंसा की बात कहनेवाले हम जैसे पण्डित और साधुजन भी नहीं बचेंगे, मन्दिर-मस्जिद भी साफ हो जावेंगे। आज के युद्ध सर्वविनाशक हो गये हैं। आज हिंसा जितनी भयानक हो गयी है, भगवान महावीर की अहिंसा की आवश्यकता भी आज उतनी ही अधिक हो गयी है।

इस स्थिति में भगवान महावीर को आउट ऑफ डेट कहना, अनुपयोगी कहना कहाँ तक उचित है ? — यह विचारने की बात है। पृष्ठ-७१

(१०६६)

आज की लड़ाइयाँ बड़ी वीतरागी लड़ाइयाँ हो गयी हैं। पहिले की लड़ाइयों में मारनेवालों को भी पता रहता था कि मैंने किसको मारा है और मरनेवालों को भी पता रहता था कि मुझे कौन मार रहा है; पर आज न मरनेवालों को पता है कि मुझे कौन मार रहा है, न मारने वालों को ही पता है कि मैं किसे मारने जा रहा हूँ। पृष्ठ-७१

(१०६७)

बमों की लड़ाई वस्तुतः व्यक्तियों की लड़ाई नहीं, देशों की लड़ाई है। व्यक्तियों की अपेक्षा देशों की लड़ाई अधिक खतरनाक होती है, क्योंकि वह सामूहिक विनाश करती है। पृष्ठ-७२

(१०६८)

पहले की लड़ाइयाँ व्यक्तियों के बीच होती थीं, फिर परिवारों के बीच होने लगीं। उसके बाद जातियाँ लड़ने लगीं और आज देश लड़ते हैं। पृष्ठ-७२

(१०६९)

भाई ! जब व्यक्ति लड़ते हैं तो व्यक्ति बर्बाद होते हैं, जब परिवार लड़ते हैं तो परिवार बर्बाद होते हैं, जब जातियाँ लड़ती हैं तो जातियाँ बर्बाद होती हैं और जब देश लड़ते हैं तो देश बर्बाद होते हैं। पृष्ठ-७२

(१०७०)

भाई ! आज हिंसा का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है। वह भी अब व्यक्तिगत नहीं रही है।

विनाश की इस प्रलयंकारी बाढ़ को रोकने में यदि कोई समर्थ है तो वह एकमात्र भगवान महावीर की अहिंसा; अतः मैं कहता हूँ कि भगवान महावीर की अहिंसा की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी भगवान महावीर के जमाने में भी नहीं थी। पृष्ठ-७३

(१०७१)

बिना समझे किया गया ग्रहण-त्याग अनर्थक ही होता है। पृष्ठ-७३

(१०७२)

काया की हिंसा को तो सरकार रोकती है। यदि कोई किसी को जान से मार दे तो उसे पुलिस पकड़ लेगी, उस पर मुकदमा चलेगा और फांसी की सजा होगी। फांसी की सजा न हुई तो आजीवन कारावास होगा। न मारे, पीटे तो भी पुलिस पकड़ेगी, मुकदमा चलेगा और दो-चार वर्ष की सजा होगी। पृष्ठ-७५

(१०७३)

भाई ! जो व्यक्ति अपनी वाणी का सदुपयोग करता है, समाज उसका सन्मान करता है और जो दुरुपयोग करता है, उसकी उपेक्षा या अपमान। इसप्रकार सन्मान के लोभ से एवं उपेक्षा या अपमान के भय से हम बहुत-कुछ अपनी वाणी पर भी संयम रखते हैं; पर यदि मैं अभी यहीं बैठे-बैठे आप सबको मन में गालियाँ देने लगूँ तो मेरा क्या कर लेगा समाज और क्या कर लेगी सरकार ?

यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि न जहाँ सरकार का प्रवेश है और न जहाँ समाज की चलती है, धर्म का काम वहाँ से आरंभ होता है; अतः उन्होंने ठीक ही कहा है कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है — यही जिनागम का सार है। पृष्ठ-७८

(१०७४)

पहिले हिंसा आत्मा अर्थात् मन में उत्पन्न होती है। यदि क्रोधादि रूप हिंसा मन में न समाये तो फिर वाणी में प्रकट होती है। यदि वाणी से भी काम न चले तो काया में प्रस्फुटित होती है। हिंसा की उत्पत्ति का यही क्रम है।

यदि हिंसा मन में ही उत्पन्न न होगी तो फिर वाणी और काया में प्रस्फुटित होने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। पृष्ठ-७९

(१०७५)

अत: भगवान महावीर ने हिंसा के मूल पर प्रहार करना उचित समझा। यही कारण है कि वे कहते हैं कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है।

पृष्ठ-७९

(१०७६)

भाई ! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी।

पृष्ठ-७९

(१०७७)

यदि हम चाहते हैं कि शराब लोगों के माथे में न भन्नाये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह लोगों के पेट में न जाये; यदि हम चाहते हैं कि शराब लोगों के पेट में न जाये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह मार्केट में न आये; यदि हम चाहते हैं कि वह मार्केट में न आये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह बने ही नहीं। भाई ! इतना किए बिना काम नहीं चलेगा।

इसीप्रकार यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन में हिंसा प्रस्फुटित ही न हो तो हमें उसे आत्मा के स्तर पर, मन के स्तर पर ही रोकना होगा; क्योंकि यदि आत्मा या मन के स्तर पर हिंसा उत्पन्न हो गई तो वह वाणी और काया के स्तर पर भी प्रस्फुटित होगी ही।

यही कारण है कि भगवान महावीर बात की तह में जाकर बात करते हैं और कहते हैं कि यदि हिंसा को रोकना है तो उसे आत्मा और मन के स्तर पर ही रोकना होगा। जबतक लोगों के दिल साफ़ नहीं होंगे, जबतक लोगों की आत्मा में निर्मलता नहीं होगी, तबतक हिंसा के अविरल-प्रवाह को रोकना संभव न होगा। पृष्ठ-८२

(१०७८)

जिस रागभाव अर्थात् प्रेमभाव को सारा जगत् अहिंसा माने बैठा है, भगवान महावीर उस रागभाव को ही हिंसा बता रहे हैं। बात जरा खतरनाक है; अतः सावधानी से सुनने की आवश्यकता है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा की इसी विशेषता के कारण कहा जाता रहा है कि अन्य दर्शनों की अहिंसा जहाँ समाप्त होती है, जैनदर्शन की अहिंसा वहाँ से आरम्भ होती है। पृष्ठ-८२

(१०७९)

सारी दुनिया कहती है कि प्रेम से रहो और महावीर कहते हैं कि यह प्रेम — यह राग भी हिंसा है। पृष्ठ-८२

(१०८०)

जर, जोरू और जमीन के कारण जो युद्ध होते हैं; वे जर, जोरू और जमीन के प्रति राग के कारण होते हैं या द्वेष के कारण ?

यह बात तो हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है कि जर, जोरू और जमीन के प्रति राग के कारण ही युद्ध होते हैं, द्वेष के कारण नहीं। रामायण के युद्ध के सन्दर्भ में विचार करें तो श्री रामचन्द्रजी को तो महारानी सीता से अगाध स्नेह (राग) था ही, पर रावण को भी द्वेष नहीं था। यदि द्वेष होता तो वह सीताजी का हरण न करता, उन्हें घर न ले जाता, सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान न करता, स्वयं को स्वीकार कर लेने के लिए प्रार्थनाएँ न करता और इसप्रकार के प्रलोभन नहीं देता कि तुम मुझे स्वीकार कर लो, मैं तुम्हें पटरानी बनाऊँगा, मन्दोदरी से भी अधिक सम्मान दूँगा।

यह सब उसके राग को ही सूचित करता है, द्वेष को नहीं। इसप्रकार की प्रवृत्ति राग का ही परिणाम हो सकती है, द्वेष का नहीं।

यद्यपि यह सत्य है कि रावण का यह प्रेम वासनाजन्य परस्त्री-प्रेम होने से सर्वथा अनुचित है; पर है तो प्रेम ही, राग ही। अतः सहज ही सिद्ध है कि रामायण का युद्ध नारी के प्रति प्रेम के कारण ही हुआ था, नारी के प्रति राग के कारण ही हुआ था।

इसीप्रकार कौरवों को तो जमीन से राग था ही, पर पाण्डवों को भी जमीन से राग ही था। पृष्ठ-८५

(१०८१)

युद्धों में होनेवाली सर्वाधिक द्रव्यहिंसा के मूल में राग ही कार्य करता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने रागादिभावों की उत्पत्ति को हिंसा कहा है और रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होने को अहिंसा घोषित किया है।

मात्र युद्धों में होनेवाली हिंसा ही नहीं, अपितु खान-पान एवं भोग-विलास में होनेवाली हिंसा के मूल में भी मुख्यरूप से राग ही कार्य करता है। पृष्ठ-८६

(१०८२)

अकेली हिंसा ही नहीं, पाँचों पापों का मूल कारण एकमात्र रागभाव ही है। लोभरूप राग के कारण ही लोग झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, परिग्रह जोड़ते हैं। पृष्ठ-८६

(१०८३)

इसप्रकार हम देखते हैं कि पाँचों पापों की मूल जड़ एकमात्र रागभाव ही है। पृष्ठ-८७

(१०८४)

आग तो आग है; इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि वह नीम की है या चन्दन की।

उसीप्रकार राग चाहे अपनों के प्रति हो या परायों के प्रति हो; चाहे अच्छे लोगों के प्रति हो या बुरे लोगों के प्रति हो; पर है तो वह हिंसा ही, बुरा ही। पृष्ठ-८७

(१०८५)

राग के अतिरिक्त द्वेषादि के कारण भी जो हिंसा होती देखी जाती है, उसके भी मूल में जाकर देखें तो उसका कारण भी राग ही दृष्टिगोचर होगा।

पृष्ठ-८८

(१०८६)

यद्यपि 'राग' शब्द बहुत व्यापक है, उसमें आत्मा में उत्पन्न होने वाले सभी विकारीभाव समाहित हो जाते हैं। मिथ्यात्व सहित सम्पूर्ण मोह को, जिसमें द्वेष भी सम्मिलित है, राग कहा जाता है; तथापि यहाँ 'राग' शब्द के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग करके द्वेषादि विकारों का पृथक् रूप से भी संकेत कर दिया है।

पृष्ठ-८९

(१०८७)

यदि 'राग' शब्द का उल्लेख स्पष्ट रूप से न होता तो राग में धर्म माननेवाले लोग उसे हिंसा स्वीकार ही न करते; अतः बात अस्पष्ट ही रह जाती। यही कारण है कि यहाँ 'राग' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और द्वेषादि को 'आदि' शब्द में समाहित किया गया है। वक्र और जड़ शिष्य संकेतों की भाषा से नहीं समझते, उनके लिए तो जितनी अधिक स्पष्टता की जाय, उतनी ही कम है।

पृष्ठ-८९

(१०८८)

राग तो राग है, वह किसके प्रति है — इससे उसके रागपने में क्या अन्तर पड़ता है ? जिस धर्मानुराग को तुम हिंसा की परिधि से बाहर रखना चाहते हो, उसी धर्मानुराग ने विश्व में कितनी खून की नदियाँ बहाई हैं — क्या इसकी जानकारी नहीं है आपको ?

पृष्ठ-८९

(१०८९)

इतिहास के पन्ने पलटकर तो देखो, धर्मानुराग के नाम पर ही लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। हमारी आँखों के सामने होनेवाले हिन्दू-मुसलमानों के दंगे, सिया-सुन्नियों के दंगे धर्मानुराग के ही परिणाम हैं।

दूर क्यों जाते हो, दिगम्बर-श्वेताम्बरों के झगड़ों के पीछे भी तो यही धर्मानुराग कार्य करता है। पृष्ठ-९०

(१०९०)

भाई ! धर्मानुराग धर्म का प्रकार नहीं, राग का प्रकार है; अतः धर्म नहीं, राग ही है; धर्म तो एक वीतरागभाव ही है। पृष्ठ-९०

(१०९१)

भाई ! गजब हो गया है; वीतरागी जैनधर्म में भी आज राग को धर्म माना जाने लगा है। जब पानी में ही आग लग गई हो, तब क्या किया जा सकता है ? पृष्ठ-९०

(१०९२)

भाई ! सीधी सी बात है कि यदि वीतरागता धर्म है तो राग अधर्म होगा ही। पृष्ठ-९०

(१०९३)

यदि जीवों के मरण को हिंसा माना जायगा तो फिर जन्म को अहिंसा मानना होगा; क्योंकि हिंसा और अहिंसा के समान जन्म और मृत्यु भी परस्पर विरोधी भाव हैं। जन्म को अहिंसा और मरण को हिंसा मानने पर यह बात स्वतः समाप्त हो जाती है कि आज जगत में हिंसा अधिक फैलती जा रही है; क्योंकि जन्म और मृत्यु का अनुपात तो सदा समान ही रहता है; जो जन्मता है, वही तो मरता है तथा जो मरता है, वह तत्काल कहीं न कहीं जन्म ले लेता है।

इससे बचने के लिए यदि कोई कहे कि मृत्यु का विरोधी जन्म नहीं, जीवन है; तो बात और भी अधिक जटिल हो जावेगी, उलझ जावेगी; क्योंकि व्यक्ति जिन्दा तो वर्षों तक रहता है और मरण तो क्षणिक अवस्था का ही नाम है।

इसप्रकार मृत्यु को हिंसा और जीवन को अहिंसा मानने पर अहिंसा का पलड़ा और भी अधिक भारी हो जायगा, जबकि यह बात सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि आज हिंसा बहुत बढ़ती जा रही है। पृष्ठ-९२

(१०९४)

सरकारी कानून भी इस बात को स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति ने किसी को जान से मारने के इरादे से गोली चला दी, पर भाग्य से यदि वह न मरे, बच भी जावे; तथापि गोली मारनेवाला तो हत्यारा हो ही जाता है; पर बचाने के अभिप्राय से ऑपरेशन करनेवाले डॉक्टर से चाहे मरीज ऑपरेशन की टेबल पर ही क्यों न मर जावे; पर डॉक्टर हत्यारा नहीं कहा जाता, नहीं माना जाता।

यदि मृत्यु को ही हिंसा माना जायगा तो फिर डॉक्टर को हिंसक तथा मारने के इरादे से गोली चलानेवाले को हिंस्य व्यक्ति के न मरने पर अहिंसक मानना होगा, जो न तो उचित ही है और न उसे अहिंसक माना ही जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि हिंसा का संबंध मृत्यु के होने या न होने से नहीं है, हिंसकभावों के सद्भाव से है। पृष्ठ-९४

(१०९५)

हिंसा की उत्पत्ति हिंसक के हृदय में होती है, हिंसक की आत्मा में होती है, हिंस्य में नहीं। — इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। हत्या के माध्यम से उत्पन्न मृत्यु को द्रव्यहिंसा कहा जाता है, पर सहज मृत्यु को तो द्रव्यहिंसा भी नहीं कहा जाता। भावहिंसापूर्वक हुआ परघात ही द्रव्यहिंसा माना जाता है, भावहिंसा के बिना किसी भी प्रकार की मृत्यु द्रव्यहिंसा नाम नहीं पाती। पृष्ठ-९५

(१०९६)

यहाँ मात्र मारने के भाव को ही हिंसा नहीं कहा जा रहा है, अपितु सभी प्रकार के रागभाव को हिंसा बताया जा रहा है, जिसमें बचाने का भाव भी सम्मिलित है। पृष्ठ-९५

(१०९७)

भाई! दूसरों को मारने या बचाने का भाव उसके सहज जीवन में हस्तक्षेप है। सर्वप्रभुतासम्पन्न इस जगत में पर के जीवन-मरण में हस्तक्षेप करना अहिंसा कैसे माना जा सकता है ? अनाक्रमण के समान अहस्तक्षेप की भावना भी अहिंसा में पूरी तरह समाहित है। यदि दूसरों पर आक्रमण हिंसा है तो

उसके कार्यों में हस्तक्षेप भी हिंसा ही है, उसकी सर्वप्रभुतासम्पन्नता का अनादर है, अपमान है। पृष्ठ–९५

(१०९८)

भगवान महावीर के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वयं सर्वप्रभुतासम्पन्न द्रव्य है, अपने भले–बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं उसका है; उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं है। इस परम सत्य की स्वीकृति ही भगवती अहिंसा की सच्ची आराधना है। भगवती अहिंसा भगवान महावीर की साधना की चरम उपलब्धि है, उनकी पावन दिव्यध्वनि का नवनीत है, जन्म-मरण का अभाव करनेवाला रसायन है, परम–अमृत है। पृष्ठ–९५

(१०९९)

अहिंसा तो अमृत है; जो इस अमृत के प्याले को पियेगा, वह अमर होगा, सुखी होगा, शान्त होगा। पृष्ठ–९६

(११००)

भाई ! इस पावन अहिंसा को यदि व्यक्ति अपनायेगा तो व्यक्ति सुखी होगा, परिवार अपनायेगा तो परिवार सुखी होगा, समाज अपनायेगा तो समाज सुखी होगा और देश अपनायेगा तो देश सुखी होगा। पृष्ठ–९६

* * *

कुन्दकुन्द शतक

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा।
हे कानवालो सुनो! दर्शन–हीन वंदन योग्य ना॥ ३५॥
जो ज्ञान–दर्शन–भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं॥ ३६॥
दृग–भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना।
हों सिद्ध चारित्र–भ्रष्ट पर दृग–भ्रष्ट को निर्वाण ना॥ ३७॥
जो लाज गारव और भयवश पूजते दृग भ्रष्ट को।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो॥ ३८॥

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

सारसमयसार

(११०१)

यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बरजिन-आचार्य परम्परा में शिरोमणि हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह ग्रन्थाधिराज समयसार सम्पूर्ण जिन-वाङ्गमय का शिरमौर है। पृष्ठ-३

(११०२)

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

पृष्ठ-४

(११०३)

पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभावको ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

पृष्ठ-४-५

(११०४)

भगवान आत्मा के अतिरिक्त सभी देहादि पर पदार्थों, रागादि विकारी भावों एवं गुणभेदादि के विकल्पों में अपनापन ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। पृष्ठ-५

(११०५)

अज्ञानी आत्मा देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारों को निजरूप ही मानता है या फिर उन्हें अपना मानकर उनसे स्व-स्वामी सम्बन्ध स्थापित करता

है, उनका स्वामी बनता है। यदि कदाचित् उन्हें अपना न भी माने तो भी उनका कर्त्ता-भोक्ता तो बनता ही है। पृष्ठ-८

(११०६)

जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व-ममत्व और कर्त्ता-कर्म अधिकार में पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध कर भेदविज्ञान कराया गया है। पृष्ठ-९

(११०७)

यद्यपि शुभाशुभरूप पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा को बंधन में डालनेवाले हैं; तथापि अज्ञानीजन पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानते हैं। अज्ञानजन्य इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप अधिकार का प्रणयन किया है। पृष्ठ-९

(११०८)

आस्रवतत्त्व होने से पाप के समान पुण्यतत्त्व भी हेय है, उपादेय नहीं; संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। यही भेदज्ञान कराना पुण्य-पाप अधिकार का मूल प्रयोजन है। पृष्ठ-११

(११०९)

सम्पूर्ण आस्रवभावों से भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) अत्यन्त भिन्न है। आस्रवभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा को ही निज जानने-माननेवाले ज्ञानीजनों को मिथ्यात्वसंबंधी आस्रव नहीं होते इसकारण उन्हें निरास्रव कहा जाता है। पृष्ठ-११

(१११०)

शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है। पृष्ठ-१२

(११११)

संवर अनंत दुःखरूप संसार का अभाव कर अनंत सुखस्वरूप मोक्ष का कारण है। पृष्ठ-१३

(१११२)

संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस ग्रंथराज समयसार में आरम्भ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते हैं। पृष्ठ-१३

(१११३)

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को क्रिया करते हुए एवं उसका फल भोगते हुए भी यदि कर्मबंध नहीं होता है और निर्जरा होती है तो उसका कारण उसके अंदर विद्यमान ज्ञान और वैराग्य का बल ही है। पृष्ठ-१६

(१११४)

हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टी जीव को होनेवाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टायें या कर्मरज आदि नहीं। पृष्ठ-१७

(१११५)

यद्यपि यह बात सत्य है कि कर्मजाल, योग, हिंसा और भोग क्रिया के कारण बंध नहीं होता, तथापि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती और न होनी ही चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थहीनता और भोगों में लीनता मिथ्यात्व की भूमिका में ही होती है। पृष्ठ-१९

(१११६)

जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं। पृष्ठ-१९

(१११७)

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादि रूप परिणमित पुद्गल आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तुम हमें जानो' और आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर उन्हें जानने को कहीं नहीं जाता, दोनों अपने-अपने स्वभावानुसार स्वतन्त्रता से परिणमित होते हैं। इसप्रकार स्वभाव से आत्मा परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त उदासीन होने पर भी अज्ञान अवस्था में उन्हें अच्छे-बुरे जानकर राग-द्वेष करता है। पृष्ठ-२१

(१११८)

शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानते नहीं हैं, इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है — ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसी प्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल, आकाश एवं अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये सब कुछ जानते नहीं हैं, अत: ज्ञान अन्य है और ये सब अन्य हैं। इसप्रकार सभी परपदार्थों एवं अध्यवसानभावों से भेदविज्ञान कराया गया है। पृष्ठ-२१

(१११९)

इस ग्रन्थाधिराज समयसार में नवतत्त्वों के माध्यम से मूलप्रयोजनभूत उस शुद्धात्मवस्तु का प्ररूपण है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। पृष्ठ-२२



समयसार

(पद्यानुवाद)

सुशील है शुभकर्म और अशुभ करम कुशील है।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं?॥ १४५॥

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती॥ १४६॥

दु:शील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो।
दु:शील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो॥ १४७॥

जगत जन जिस तरह कुत्सित शील जन को जानकर।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते॥ १४८॥

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर

(११२०)

घटना समग्र-जीवन के एक खण्ड पर प्रकाश डालती है। घटनाओं में जीवन को देखना उसे खण्डों में बाँटना है। भगवान महावीर का व्यक्तित्व अखण्ड है, अविभाज्य है, उसका विभाजन संभव नहीं है। उनके व्यक्तित्व को घटनाओं में बाँटना, उनके व्यक्तित्व को खण्डित करना है। पृष्ठ-३

(११२१)

वे धर्मक्षेत्र के वीर, अतिवीर और महावीर थे; युद्धक्षेत्र के नहीं। युद्धक्षेत्र और धर्मक्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर है। युद्धक्षेत्र में शत्रु का नाश किया जाता है और धर्मक्षेत्र में शत्रुता का। युद्धक्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्वयं को। युद्धक्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को। पृष्ठ-५-६

(११२२)

दुर्घटनाएँ या तो पाप के उदय से घटती हैं या पाप भाव के कारण। जिसके जीवन में न पाप का उदय हो और न पाप भाव हो, तो फिर दुर्घटनाएँ कैसे घटेंगी, क्यों घटेंगी ? अनिष्ट संयोग पाप के उदय के बिना सम्भव नहीं हैं तथा वैभव और भोगों में उलझाव पाप भाव के बिना असम्भव है। भोग के भावरूप पाप भाव के सद्भाव में घटने वाली घटनाओं में शादी एक ऐसी दुर्घटना है, जिसके घट जाने पर दुर्घटनाओं का एक कभी न समाप्त होने वाला सिलसिला आरम्भ हो जाता है। सौभाग्य से महावीर के जीवन में यह दुर्घटना न घट सकी। एक कारण यह भी है कि उनका जीवन घटना-प्रधान नहीं है। पृष्ठ-६

(११२३)

दुर्घटनाएँ बचपन से नहीं, बचपने से घटती हैं; महावीर के बचपन तो आया था, पर बचपना उनमें नहीं था, अतः घुटने फूटने और दाँत टूटने का सवाल

ही नहीं उठता। वे तो बचपन से ही सरल, शांत एवं चिंतनशील व्यक्तित्व के धनी थे। उपद्रव करना उनके स्वभाव में ही न था और बिना उपद्रव के दाँत टूटना, घुटने फूटना सम्भव नहीं। पृष्ठ-७

(११२४)

जवानी में तो कुछ न कुछ घटा ही होगा। पर बन्धुवर ! जवानी में दुर्घटनाएँ उनके साथ घटती हैं, जिन पर जवानी चढ़ती है। महावीर तो जवानी पर चढ़े थे, जवानी उन पर नहीं। जवानी चढ़ने का अर्थ है — यौवन सम्बन्धी विकृतियाँ उत्पन्न होना और जवानी पर चढ़ने का तात्पर्य शारीरिक सौष्ठव का पूर्णता को प्राप्त होना है। पृष्ठ-७

(११२५)

राग-द्वेष घट गये थे, तब तो वे वन को गये ही थे। क्या राग-द्वेष का घटना कोई घटना नहीं है ? पर बहिर्मुखी दृष्टि वाले को राग-द्वेष घटने में कुछ घटना-सा नहीं लगता। पृष्ठ-९

(११२६)

वन में ही तो महावीर रागी से वीतरागी बने थे, अल्प ज्ञानी से पूर्ण ज्ञानी बने थे। सर्वज्ञता और तीर्थंकरत्व वन में ही तो पाया था। क्या ये घटनाएँ छोटी हैं ? क्या कम हैं? इनसे बड़ी भी कोई घटना हो सकती है ? मानव से भगवान बन जाना कोई छोटी घटना है ? पर जगत् को तो इसमें कोई घटना सी ही नहीं लगती। पृष्ठ-९-१०

(११२७)

वे साधु बने नहीं, हो गये थे। साधु बनने में वेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं ही पलट जाता है। स्वयं के बदल जाने पर वेष भी सहज ही बदल जाता है। वेष बदल क्या जाता है, सहज वेष हो जाता है, यथा-जात वेष हो जाता है; जैसा पैदा हुआ था वही रह जाता है, बाकी सब छूट जाता है। पृष्ठ-११

(११२८)

वस्तुतः साधु की कोई ड्रेस नहीं है, सब ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेष है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है। यथा-जातरूप (नग्न) ही सहज वेष है; और सब वेष तो श्रमसाध्य हैं, धारण करने रूप हैं। वे साधु के वेष नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें गांठ है, उनमें गांठ बांधना अनिवार्य है। साधुता बंधन नहीं है, उसमें सर्व बन्धनों की अस्वीकृति है। साधु का कोई वेष नहीं होता, नग्नता कोई वेष नहीं।

पृष्ठ-११

(११२९)

सर्व वेष शृंगार के सूचक हैं, साधु को शृंगार की आवश्यकता ही नहीं। अतः उसका कोई वेष नहीं होता। पृष्ठ-१२

(११३०)

दिगम्बर कोई वेष नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है; वस्तु का स्वरूप है।

पृष्ठ-१२

(११३१)

हमारे लिए दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या गया — कहा जाने लगा है। सब वेषों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढ़ना कुछ भी नहीं। छोड़ना भी क्या, उघड़ना है, छूटना है। पृष्ठ-१२

(११३२)

रागी वन में जायगा तो कुटिया बनायगा, वहाँ भी घर बसायगा, ग्राम और नगर बसायगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बसायगा, महलों में भी उपवन बसायगा। वह वन में रह कर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रह कर भी वन को छोड़ेगा नहीं। पृष्ठ-१३

(११३३)

वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह विचारों का आदान-प्रदान करने में निमित्त है, वह समझने-

समझाने के काम आती है; उन्हें किसी से कुछ समझना ही न था। जो समझने योग्य था उसे वे अच्छी तरह समझ चुके थे, अब तो उसमें मग्न थे। उन्हें किसी को समझाने का राग भी न रहा था, अतः वाणी का क्या प्रयोजन ? पृष्ठ-१३

(११३४)

वस्तुतः न उनका कोई शत्रु ही रहा था और न कोई मित्र। मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज हैं। जब उनके राग-द्वेष ही समाप्तप्रायः थे, तब शत्रु-मित्रों के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। मित्र रागियों के होते हैं, और शत्रु द्वेषियों के। पृष्ठ-१४

(११३५)

शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है।
पृष्ठ-१४



सीमन्धर पूजन

शुभ-अशुभ वृत्ति एकांत दुःख अत्यंत मलिन संयोगी है।
अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है॥
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य-सदन के आँगन में।
चंचल छाया की माया-सी घटती क्षण में बढ़ती क्षण में॥
तेरी फल-पूजा का फल प्रभु! हो शांत शुभाशुभ ज्वालायें।
मधुकल्प फलों-सी जीवन में, प्रभु! शांति-लतायें छा जावें॥

देव-शास्त्र-गुरु पूजन

प्रभु वीतराग की वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है।
जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है॥
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया।
बनकर पर का कर्त्ता अब तक, सत् का न प्रभो सन्मान किया॥
- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ

पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि

(११३६)

तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो जैनधर्म की स्थापना की ही नहीं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने भी जैनधर्म की स्थापना नहीं की है। भगवान धर्म की स्थापना नहीं करते; वरन् धर्म का आश्रय लेकर आत्मा, परमात्मा (भगवान) बनता है। पृष्ठ-२२

(११३७)

भगवान तो पूर्ण वीतरागी होते हैं, वीतरागी के शादी-विवाह जैसी रागादि की विक्रियाएँ संभव नहीं हैं। वस्तुतः बात यह है कि शादी तो राजकुमार ऋषभदेव की हुई थी, पत्नियाँ तो राजा ऋषभदेव की थीं, राज्य भी राजा ऋषभदेव ने किया था और कृषि आदि का उपदेश भी राजा ऋषभदेव का ही कार्य था; भगवान ऋषभदेव का नहीं। पृष्ठ-२९

(११३८)

जन्म से कोई भगवान नहीं होता। भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। भगवान तो उन्हें कहते हैं जो पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हों। वे न तो जन्म से पूर्ण वीतरागी थे और न सर्वज्ञ ही। पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता तो उन्होंने तब प्राप्त की जब वे स्त्री-पुत्रादि एवं राज्यादि परिग्रह एवं तत्सम्बन्धी राग त्याग कर नग्न-दिगम्बर साधु बने एवं अन्तर्निमग्न हो उन्होंने सम्पूर्ण राग-द्वेष और अल्पज्ञता का पूर्ण अभाव कर डाला। अतः सर्वज्ञता और पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के पूर्व जहाँ भी उनके साथ 'भगवान' विशेषण का प्रयोग हो, उसे उपचरित कथन ही जानना चाहिए। पृष्ठ-२९-३०

(११३९)

मूर्ति अरहन्त अवस्था की मानी जाती है तथा अरहंत अवस्था में कोई उपसर्ग नहीं होता है, यह नियम है। उपसर्ग काल की मूर्ति मुनि पार्श्वनाथ की हो सकती है, भगवान पार्श्वनाथ की नहीं। इसी प्रकार बाहुबली की मूर्ति के संबंध में भी विचारणीय है। बेलों वाली मूर्ति मुनिराज बाहुबली की हो सकती है, अरहन्त भगवान बाहुबली की नहीं। पृष्ठ-३९

(११४०)

आदिनाथ के पूर्व भी अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और महावीर के बाद इसी भारत भूमि पर उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर महापद्म होने वाले हैं व तीर्थंकरों की यह परम्परा अनन्त काल तक चलने वाली है; अत: बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध के समान महावीर को जैनधर्म का संस्थापक मानना बहुत बड़ी भूल है। पृष्ठ-४०

(११४१)

भगवान महावीर ने धर्म की स्थापना नहीं की, उसका प्रचार व प्रसार किया है। उन्होंने धर्म का परिमार्जन (शुद्धिकरण) भी नहीं किया है। धर्म का कोई क्या परिमार्जन करेगा? धर्म तो परिमार्जित ही होता है एवं विकारी आत्माओं का परिमार्जन करनेवाला होता है। पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो परिमार्जन ही धर्म है। पृष्ठ-४०

पूर्व भव

(११४२)

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। यद्यपि उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहती हैं तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परम पदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होने वाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम पदार्थ ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से

भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अत: हे मृगराज! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पृष्ठ-४७

(११४३)

हे मृगराज ! तू पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख। तू भी सिद्ध के समान अनन्तज्ञानादि गुणों का पिण्ड है। ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से ही पर्याय में सामर्थ्य प्रगट होती है। इतना ज्ञान तेरी वर्तमान पर्याय में भी प्रगट है, जिससे तू चैतन्यतत्त्व का अनुभव कर सके। जैसे सिंह-शावक अपनी माँ सिंहनी को हजारों के बीच पहिचान लेता है, भले ही वह अपनी माँ को किसी नाम या गाँव से न जानता हो, गोरे-काले में न जानता हो, पर उसे जानता अवश्य है; वैसे ही भले ही तत्त्वों के नाम न जान पावे, तो भी 'पर' से भिन्न आत्मा को पहिचान सकता है। इस समय तेरे परिणामों में भी विशुद्धि है। तू अन्तरोन्मुखी होकर आत्मा के अनुभव का अपूर्व पुरुषार्थ कर, तुझे अवश्य ही आत्मानुभूति प्राप्त होगी। तेरी काललब्धि आ चुकी है, तेरी भली होनहार हमें स्पष्ट दिखाई दे रही है, तुझमें सर्व प्रकार पात्रता प्रगट हुई प्रतीत हो रही है। तू एक बार रंग-राग और भेद से भिन्न आत्मा का अनुभव करने का अपूर्व पुरुषार्थ कर···· कर···· कर··· ! पृष्ठ-४७-४८

(११४४)

जब उपादान की तैयारी हो तब कार्य होता ही है, और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है, उसे खोजने कहीं नहीं जाना पड़ता है। क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश प्राप्ति की संभावना और अवसर कहाँ था ? पर सिंह की पर्याय में उसका पुरुषार्थ जागा तो निमित्त आकाश से उतरकर आये।

पृष्ठ-४९

(११४५)

अत : आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिए। निमित्तों से कार्य नहीं होता, निमिंत्तों के बिना कार्य रुकता भी नहीं; पर स्थिति यह है कि जब कार्य होता है तब निमित्त भी सहजपने होता ही है। पृष्ठ-४९

(११४६)

वस्तुत: निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। जब सिंह की पर्याय में सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों को निमित्त कहा गया और मारीचि के भव में नहीं हुई तो ऋषभदेव को निमित्त नहीं कहा गया। यदि यहाँ भी न होती तो मुनिराजों का उपदेश भी निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त के प्रति बहुमान भी तभी आता है जब कार्य सम्पन्न हो जावे। शेर की पर्याय में जब सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों के प्रति सहज भक्ति जगी, किन्तु मारीचि के भव में सद्धर्म की उपलब्धि नहीं हुई तो भगवान ऋषभदेव के प्रति भक्ति-भाव नहीं उमड़ा। पृष्ठ-४९

(११४७)

निमित्त से कार्य नहीं होता, निमित्त पर तो कार्य होने का आरोप किया जाता है। कैसी विचित्र विडम्बना है कि एक ही जीव के मारीचि के भव में आदिनाथ जैसा उत्कृष्ट सद्धर्म प्रवक्ता द्वेष का निमित्त बना और सिंह की पर्याय में मुनिराज तत्त्व प्राप्ति के निमित्त बने। इससे उपादानगत पर्याय की योग्यता के समक्ष निमित्त की गौणता स्वत: सिद्ध है। पृष्ठ-५०

(११४८)

मारीचि के भव में अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का अभाव, पर्यायगत अयोग्यता, काललब्धि की अप्राप्ति एवं मिथ्यात्वकर्म का प्रबल उदय भवभ्रमण के कारण रहे। पृष्ठ-५०

(११४९)

सिंह की पर्याय में आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ, पर्याय की उपादानगत योग्यता, काललब्धि की प्राप्ति, मिथ्यात्वादि कर्मों का योग्यतानुसार अभाव सद्धर्म प्राप्ति

रूप कार्य के नियामक रहे, न कि मात्र उपदेश। उपदेश का उसमें अपना स्थान है, पर तदनुसार ही। पृष्ठ-५०

(११५०)

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव ही संसार हैं, संसार के कारण हैं, दु:ख स्वरूप हैं, दु:ख के कारण हैं; और त्रिकाली ध्रुव तत्त्व आत्मा सुख स्वरूप और सुख का कारण है। पर में और पर्याय में एकत्वबुद्धि ही संसार है, दु:ख है। पर और विकारी-अविकारी पर्यायों से भिन्न ज्ञानानन्द-स्वभावी चैतन्य ध्रुव तत्त्व ही आश्रय करने योग्य परम पदार्थ है। वह स्वयं धर्म स्वरूप है, उसके आश्रय से ही पर्याय में धर्म प्रगट होता है। पृष्ठ-५२

(११५१)

अपना सुख अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अत: सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भंडार है, सुख स्वरूप है, सुख ही है। पृष्ठ-५२

(११५२)

शुभाशुभ भावरूप पुण्य-पाप का फल चतुर्गति भ्रमण ही है। शुभाशुभ भाव के अभावरूप जो वीतराग भाव है, वही धर्म है; वही सुख का कारण है। वीतराग भाव की उत्पत्ति आत्मानुभूतिपूर्वक होती है। जब शेर की पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की तभी वे संसार के किनारे लगे। अत: प्रत्येक आत्मार्थी को वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति अवश्य प्राप्त करना चाहिए। यही एक मात्र सार है। पृष्ठ-५४

(११५३)

महावीर की वीरता में दौड़-धूप नहीं, उछलकूद नहीं, मारकाट नहीं, हाहाकार नहीं; अनन्त शान्ति है। उनके व्यक्तित्व में वैभव की नहीं, वीतराग-विज्ञान की विराटता है। पृष्ठ-५६

(११५४)

संक्षेप में उनकी जीवन-गाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरंभ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे, बीच के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्माराधना-रत रहे और अंतिम तीस वर्षों में प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे। पृष्ठ-५६

(११५५)

अपने को जीतना ही सच्ची वीरता है, मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। दूसरों को तो इस जीव ने हजारों बार जीता है, पर अपने को नहीं जीता। दूसरों को जानने और जीतने में इस जीव ने अनन्त भव खोये हैं और दु:ख ही पाया है। एक बार अपने को जान लेता और अपने को जीत लेता तो ज्ञानानन्दमय हो जाता। भव-भ्रमण से छूटकर भगवान बन जाता

पृष्ठ-५९

(११५६)

यदि जाँचना है तो अपने को जाँचो, यदि परखना है तो अपने को परखो, पर को क्यों परखते हो ? सब दूसरों को ही परखना चाहते हैं, दूसरों को ही जानना चाहते हैं। आत्मा का स्वभाव स्वपर प्रकाशक है। 'स्व' को पहिले जानो फिर बाद में 'पर' का ज्ञान भी हो जायगा। पृष्ठ-६०

(११५७)

वस्तु की स्थिति 'पर' से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है। पृष्ठ-६१

(११५८)

सर्व समाधान कारक तो अपना आत्मा है जो स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। दूसरों को देखना, सुनना आदि तो निमित्त मात्र हैं। पृष्ठ-६२

(११५९)

दूसरी बात यह भी है कि मैं यदि 'सन्मति' हूँ तो अपनी सद्बुद्धि के कारण, तत्त्वार्थों के सही निर्णय करने के कारण हूँ, न कि मुनिराजों की शंका के

समाधान के कारण। यदि किसी जड़ पदार्थ को देखने से किसी को ज्ञान हो जावे को क्या वह जड़ पदार्थ भी 'सन्मति' कहा जायेगा ? ज्ञान का निमित्त तो जड़ पदार्थ भी हो सकता है, होता भी है। चश्मा जड़ पदार्थ है, पर देखने में निमित्त कहा ही जाता है। वैसे पांचों द्रव्य-इन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं, भाषा भी जड़ है — क्योंकि शब्द पुद्गल की पर्याय है और पुस्तकें तो स्पष्ट ही कागज-स्याही का परिणमन है। इन सबको ज्ञान का निमित्त कहा जाता है तो क्या सब 'सन्मति' होंगे ? मैं अपने सम्यग्ज्ञान (सम्यकत्वसहित ज्ञान) के कारण सन्मति हूँ, न कि दूसरों की शंकाओं का समाधानकर्त्ता होने के कारण। मुनिराजों ने जो कहा सो ठीक कहा, पर वह आरोपित कथन है, इस प्रकार कथन किया जाता है — विशेषकर भक्ति आदि में और नामकरण में ऐसा कथन अधिक होता है; किन्तु हमें उस आरोप को अवश्य समझना चाहिए।

पृष्ठ-६२-६३

(११६०)

उनके साधु होने के कारण तत्कालीन परिस्थितियों में खोजना व्यर्थ है उनका विराग परोपजीवी नहीं था। परिस्थिति-जन्य विराग परिस्थितियों की समाप्ति पर समाप्त हो जाता है। पृष्ठ-६५

(११६१)

देवों में दिव्य-शक्ति होने पर भी विजय मानवों की हुई, क्योंकि यहाँ प्रतियोगिता देहशक्ति की न होकर, आत्मबल की थी; पाने की न होकर, त्याग ने की थी। जो प्रभु के साथ ही दीक्षित हो, वही प्रभु की पालकी उठाये। इस मैदान में इन्द्र परास्त हो गया, देव परास्त हो गये और उन्हें उस समय अपने इन्द्रत्व और देवत्व की तुच्छता मानव भव के सामने स्पष्ट अनुभव हुई।

पृष्ठ-६५

(११६२)

उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव ही न रहा था। वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करने में निमित्त होती है, वह

समझने-समझाने के काम आती है; उन्हें किसी से कुछ समझना ही न था, जो समझने योग्य था उसे वे अच्छी तरह समझ चुके थे, अब तो उसमें मग्न थे। उन्हें किसी को समझाने का राग भी न रहा था, अतः वाणी का क्या प्रयोजन? वाणी उन्हें प्राप्त थी, पर वाणी की उन्हें आवश्कता ही न थी। जो उन्हें चाहिये ही नहीं, वह रहे तो रहे, उससे उन्हें क्या ? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक ! वे तो निरन्तर आत्म-चिंतन में ही लगे रहते थे। पृष्ठ-६७

(११६३)

स्त्रियाँ स्त्रियों के प्रति सहज ही कठोर होती हैं। फिर जिसमें सपत्नी की आशंका हो, उसके प्रति क्या कहना ? गुरबेल (गिलोय) स्वभाव से ही अत्यन्त कटुक होती है, वह नीम पर चढ़ रही हो तो फिर उसका क्या कहना ? पृष्ठ-६९

(११६४)

बन्धन तभी तक बन्धन है — जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध-स्वभावी आत्मा को भूलकर 'बंधन' पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बँधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बँधा है। लौकिक बंधन से विकल्प का बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं। बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है — पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ ? चन्दना की बंधन की विस्मृति ही बंधन के अभाव का कारण बनी। पृष्ठ-७०

(११६५)

दूसरा बोला — बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे सम्भव है ? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है ? तीसरा कह उठा — सम्भव है। स्वीकारना तो

सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बंधी ही नहीं। स्वभाव में बंधन नहीं — उसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतन्त्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है, क्योंकि अन्तर में स्वतन्त्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन काटने में भी वही समर्थ कारण है।

पृष्ठ-७०

(११६६)

अन्तर्मग्न प्रभु की मुद्रा ने मानो इन्द्रभूति गौतम को मौन उपदेश दिया कि यदि तुझे अतीन्द्रिय आनन्द एवं अन्तर की सच्ची शान्ति चाहिए तो मेरी ओर क्या देखता है ? अपनी ओर देख ! तू स्वयं अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का पिण्ड परमात्मा है। आज तक तूने ज्ञान और आनन्द की खोज पर में ही की है, पर की खोज में इतना व्यस्त रहा है कि 'मैं कौन हूँ ?' 'मैं क्या हूँ ?' — जानने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। मेरी ओर आँखें फाड़-फाड़ कर क्या देख रहा है? अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों से नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्द-जाल और वाग्-विलास से परे है, यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त पर-पदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठने वाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

पृष्ठ-७५-७६

(११६७)

हे जिनेन्द्र ! आपकी महानता बाह्य वैभव से नहीं है। वह आपका है भी नहीं, उसे तो आप दीक्षा लेते समय ही पूर्णतः त्याग चुके हैं। आपकी महानता तो अनन्तचतुष्ट्य रूप अंतरंग वैभव से है। पृष्ठ-७७

(११६८)

आपकी महिमा इस समवशरणादि विभूति से नहीं है और न इसलिए भी आप महान हैं कि बड़े-बड़ें सम्राट एवं देव और इन्द्र तक आपके चरणों में नत-मस्तक हैं। आपके आकाशगमन, भोजनादि के बिना शरीर की स्थिति आदि अनेक अतिशयों से भी मैं आपकी महानता नहीं मानता हूँ, क्योंकि ये बाह्य वैभव तो पुण्याश्रित हैं, अन्यों में भी पाये जा सकते हैं। पृष्ठ-७७

(११६९)

हे भगवन ! वस्तुत: वे आपके भगत नहीं, भोगों के भगत हैं। उनके लिए भोग ही सब कुछ हैं, भोग ही भगवान हैं। वे आपके ही चरणों में नहीं, जहाँ भी भोगों की उपलब्धि प्रतीत करेंगे, झुकेंगे। पृष्ठ-७८

(११७०)

हे प्रभो ! कितने आश्चर्य की बात है, जिन भोगों को तुच्छ जानकर आपने स्वयं त्याग किया है, वे उन्हें ही इष्ट मान रहे हैं और आप से ही उनकी माँग कर रहे हैं, आपको ही उनका दाता बता रहे हैं। हे प्रभो ! आपके अनन्तज्ञान की महिमा तो अनन्त है ही, पर अज्ञानियों के अज्ञान की महिमा भी अनन्त है, अन्यथा वे इस प्रकार व्यवहार क्यों करते ? पृष्ठ-७८

(११७१)

हे भगवन ! हम लोग आपको वर्द्धमान कहते हैं, पर वर्द्धमान तो उसे कहते हैं जो नित्य वृद्धिंगत हो। आप तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं, अत: बढ़ने का प्रश्न ही नहीं रहा; बढ़ते तो अपूर्ण हैं। पृष्ठ-७९

(११७२)

हे प्रभो ! आपका विराट व्यक्तित्व उन शब्दों में समाता नहीं है।आपके विराट व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले शब्द भाषा में हैं ही नहीं। ठीक ही है, आज तक क्या कोई ऐसा भी घड़ा बना है, जिसमें सागर समा जाये। सागर के समान आपका विराट् व्यक्तित्व भाषा रूपी गागर में नहीं आ सकता है। पृष्ठ-७९

(११७३)

दिव्य-ध्वनि में स्वभावगत स्वतन्त्रता की घोषणा के साथ-साथ पर्याय में पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए स्वावलम्बन का मार्ग बताया गया। रंग-राग और भेद से भिन्न निज शुद्धात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है। स्वतन्त्रता अपने बल पर ही प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तुएं नहीं हैं और न उन्हें दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है। पृष्ठ-८३

(११७४)

भगवान महावीर की वाणी में जो कुछ आया वह कोई नया सत्य नहीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा ? उन्होंने जो कुछ कहा वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं, उद्घाटन किया है। पृष्ठ-८४

(११७५)

- प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है।
- सब आत्माएँ समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं।
- प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है। सुख कहीं बाहर से नहीं आता है।
- आत्मा ही नहीं, प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है।
- सब जीव अपनी भूल से ही दुःखी हैं और स्वयं अपनी भूल सुधारकर सुखी हो सकते हैं।
- अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।
- भगवान कोई अलग नहीं होते। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है।
- स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो और स्वयं में समा जावो; भगवान बन जावोगे।
- भगवान जगत का कर्त्ता-हर्ता नहीं। वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है। पृष्ठ-८४

(११७६)

समझ में नहीं आता — इस दीपावली को प्रकाश का पर्व कहें या अंधकार का, इसने हमारे वीर प्रभु को हम से छीन लिया है। पर उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ था, अतः लोग शोकमग्न होकर भी हर्षित थे। सब की दशा अपनी प्रिय पुत्री को सुयोग्य वर के साथ विदा करने वाली ममतामयी माँ जैसी हो रही थी। हर्षमय शोक और शोकमय हर्ष के इस पावन प्रसंग का वर्णन शब्दों में अवर्णनीय है। पृष्ठ-८६

(११७७)

यद्यपि वे तीस वर्ष तक घर में रहे, पर रहे न रहे बराबर। उनका मन घर में कभी लगा ही नहीं। यौवन उनके भी आया था, पर उनके जीवन में यौवनायें न आ सकीं, क्योंकि उनमें योनैषणा ही न थी। उनको यौवन से कोई आकर्षण न था, तभी तो तीसवर्षीय भरे यौवन में विरागी बन, वीतरागी बनने वन को चल पड़े तथा मौन हो गये। वे गये तो गये फिर लौटे ही नहीं, मौन हुए तो हुए, फिर किसी से तब तक बोले ही नहीं, जब तक कि अपना प्राप्तव्य न पा लिया। पृष्ठ-८७

सर्वोदय तीर्थ

(११७८)

कर्त्तावाद का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है। कर्त्तावाद के निषेध से उनका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्त्ता मानना एक कर्त्तावाद है, तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता मानना अनेक कर्त्तावाद है। पृष्ठ-९१

(११७९)

यह विश्व अनादि-अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयंसिद्ध है। विश्व का कभी सर्वथा

नाश नहीं होता है, मात्र परिवर्तन होता है; वह परिवर्तन कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है। पृष्ठ-९१

(११८०)

संसार में जितने जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दु:ख से डरते हैं। यही कारण है कि समस्त तीर्थंकरों ने दु:ख को हरने वाला और सुख को करने वाला सदुपदेश ही दिया है। पृष्ठ-९३

(११८१)

जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना-रत हुए हों, उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है। पृष्ठ-११५

(११८२)

मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान की दिव्य-वाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश आता है, अत: वे ही हितोपदेशी हैं। उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम लिखा गया है, अत: शास्त्र का सही स्वरूप जानना ही हितोपदेशी विशेषण का सही ज्ञान है। पृष्ठ-१२०

(११८३)

गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है; क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्ग-दर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप को भली-भाँति न समझ पाया तो गलत गुरु के संयोग से भटक जाने की संभावना अधिक बनी रहती है। पृष्ठ-१२४

(११८४)

यदि देव साक्षात् मोक्षस्वरूप हैं तो गुरु साक्षात् मोक्षमार्ग (संवर, निर्जरा) हैं। वे एक प्रकार से चलते-फिरते सदेह सिद्ध हैं। वे देव और शास्त्र के समान ही अष्टद्रव्य से पूज्यनीय हैं। वे हमारे परमपूज्य पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं, जिन्हें हम प्रतिदिन णमोकार मंत्र के रूप में नमस्कार करते हैं। पृष्ठ-१२६

(११८५)

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव चैतन्य निज तत्त्व ही स्व है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण, उनकी पर्यायें तो 'पर' हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावरूप आस्रव, बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं। यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं, क्योंकि इन्हें जीव तत्त्व में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे। पृष्ठ-१२८

(११८६)

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्वपर-भेदविज्ञान है। पृष्ठ-१२९

(११८७)

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं। पृष्ठ-१२९

(११८८)

उनका पर को जानना भी स्व की खोज है, क्योंकि उन्हें पर से भिन्न आत्मा को जानना है; पर को न जानेंगे तो उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है। जिससे भिन्न जानना है, उसे भी जानना होगा, पर उसे जानने के लिए नहीं; आत्मा को जानने में भूल न हो जावे, मात्र इसलिए उसे जानना है। पृष्ठ-१२९

(११८९)

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज़-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है। पृष्ठ-१२९

(११९०)

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता। पृष्ठ-१२९

(११९१)

पर्याय-दृष्टि से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नजर आते हैं, पर द्रव्यदृष्टिवंत के पर्याय-दृष्टि इतनी गौण हो गई है, विशेषकर अनुभूति के काल में, कि उसमें विकार दृष्टिगत होता ही नहीं है। उसे विकार से क्या ? होगा तो होगा। पृष्ठ-१३१

(११९२)

लोग कह सकते हैं कि जब यह आत्मा में राग-द्वेष को ही स्वीकार नहीं करता तो यह आत्मा को जानता ही नहीं। पर क्या आत्मा को जानने के लिए आत्मा में राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है ? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उनकी भी सत्ता है। है तो रहा करे, उसे क्या ? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है ? वह विचारता है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे में तो उनका प्रवेश ही नहीं'। पृष्ठ-१३२

(११९३)

आत्मखोजी को जब आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जब कुछ काल बाद वे शुभोपभोग में आवेंगे तब व्यवहार में जागृत होंगे। पृष्ठ-१३२

(११९४)

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है, क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है। पृष्ठ-१३२

(११९५)

स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है, किन्तु तत्त्वमंथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूतिं प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे। पृष्ठ-१३५

(११९६)

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होने वाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्मा-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है। पृष्ठ-१३५

(११९७)

असीम निशंकता, भोगों के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओं में समता भाव, वस्तुस्वरूप की पैनी पकड़, पर के दोषों के प्रति उपेक्षाभाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिंगत दशा, विश्वासों की दृढ़ता, परिणामों की स्थिरता, गुण और गुणियों में अनुराग, आत्मलीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना उनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

पृष्ठ-१३६

(११९८)

सम्यग्दर्शन की प्रतिज्ञा है कि :— "मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले की इच्छा न होने पर भी, मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिए मुझे ग्रहण करने से पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए। पृष्ठ-१३६

(११९९)

ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसकी पर्याय अर्थात् कार्य है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है। पृष्ठ-१३७

(१२००)

सबसे यह तथ्य फलित होता है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थों का विशेषकर आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है। पृष्ठ-१३८

(१२०१)

सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि निज आत्मतत्त्व का। पृष्ठ-१३८

(१२०२)

सम्यग्ज्ञान का आधार स्याद्वाद की भाषा में कथित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप है। यद्यपि वह आगम के माध्यम से और परम्परा गुरु के उपदेश से जाना जाता है तथापि उसमें अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसे तर्क की कसौटी पर पूरी तरह कस कर खरा उतरने पर ही स्वीकार करने की बात शामिल है। तथा तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के बाद भी जब तक उसका अनुभव नहीं कर लिया जाता है तब तक वह निजवैभव नहीं बन सकता है। उसे निजवैभव बनने के लिए आगम, उपदेश, तर्क और अनुभव के मार्ग से गुजरना होगा। पृष्ठ-१४१

(१२०३)

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है — एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और

अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं। तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा - अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा — परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है। पृष्ठ-१४२-१४३

(१२०४)

प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे — नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता, आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे — आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस, गंध आदि। पृष्ठ-१४३

(१२०५)

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जिनमें विरोध-सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है। पृष्ठ-१४३

(१२०६)

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल (जोड़े) पाये जाते हैं, अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणों) का ही पिण्ड नहीं है — किन्तु परस्पर विरोधी दिखने वाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है। पृष्ठ-१४३

(१२०७)

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ तो सम्भव नहीं है — क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है, वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं, क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वस्तु में तो उन परस्पर विरोधी धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है, वे तो उस वस्तु में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

पृष्ठ-१४३-१४४

(१२०८)

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्य दृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायगा तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी है', ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविविक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

पृष्ठ-१४४

(१२०९)

कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगंध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नहीं। 'भी' और 'ही' का समान महत्त्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर 'दृढ़ता' की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है — जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा' वहाँ 'भी' लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है। जैसे — प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इस प्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही।

'भी' यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु 'ही' यह बताता है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुँजाइश नहीं है। अत: 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रहकर भी उनकी संभावना की नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।

'भी' का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है उसके विरुद्ध भी सम्भावना है, गलत है। सम्भावना अज्ञान की सूचक है अर्थात् यह प्रगट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जब कि स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से, प्रमाण है। 'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण

को पूर्ण न समझ लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाय, इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसी प्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं। पृष्ठ-१४५-१४६

(१२१०)

जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है। पृष्ठ-१४८

(१२११)

विरोध वस्तु में नहीं, अज्ञान में है। पृष्ठ-१४८

(१२१२)

हाथी और हाथी के अंगों के कथन में 'ही' और 'भी' का प्रयोग इस प्रकार होगा :—

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खंभे के समान भी है, और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि 'किसी अपेक्षा', अतः 'भी' लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो 'ही' लगाना अनिवार्य हो जायगा, अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन में दृढ़ता नहीं आयेगी, जैसे — हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही है और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है, अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है, अतः 'भी' लगाना जरूरी है। पृष्ठ-१४९

(१२१३)

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का पिण्ड है तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असम्भाव्य नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की सम्भावना का प्रसंग आयेगा। पृष्ठ-१५०

(१२१४)

वस्तुतः चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, हैं नहीं। उनकी सत्ता एक द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है। पृष्ठ-१५०-१५१

(१२१५)

कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई सम्भावना। इस तरह से स्याद्वाद को शायदवाद, संशयवाद या सम्भावनावाद बना देते हैं। 'स्यात्' शब्द तिङन्त न होकर 'निपात' है। वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। पृष्ठ-१५२

(१२१६)

शायद, संशय और सम्भावना में एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं करता। पृष्ठ-१५३

(१२१७)

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु स्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। पृष्ठ-१५३

(१२१८)

स्याद्वाद पद से मुद्रित परमागम रूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी एक प्रमाण है, तथापि उसके भेद नय हैं। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। यद्यपि नय प्रमाण के ही भेद हैं, फिर भी उन्हें प्रमाण से भिन्न माना गया है; क्योंकि नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश को ग्रहण करते हैं। पृष्ठ-१५४

(१२१९)

ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है; उस समय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं; निषिद्ध नहीं। अत: ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। पृष्ठ-१५५

(१२२०)

प्रारंभिक भूमिका में परमार्थ को समझने के लिये व्यवहार की उपयोगिता है, क्योंकि वह निश्चय का प्रतिपादक है। जैसे — हिमालय पर्वत से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली सैंकड़ों मील लम्बी गंगा नदी की लम्बाई तो क्या चौड़ाई को भी आँखों से नहीं देखा जा सकता है। अत: उसकी लम्बाई-चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है। पर जो गंगा नक्शे में है वह वास्तविक नहीं है, उससे तो मात्र गंगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नहीं बुझा सकता है, प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा। उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं। उनसे समझा जा सकता है, पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चय नय के विषयभूत त्रिकाली शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अत: व्यवहार नय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है। पृष्ठ-१६०-१६१

(१२२१)

नयों का पक्ष छुड़ाया है, निश्चय नय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहार नय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चय नय का मात्र पक्ष छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है। पृष्ठ-१६२

(१२२२)

हिंसादि पापों के त्यागरूप मुनि-श्रावक धर्म अहिंसादिरूप है। अहिंसादिरूप चारित्र का आशय मात्र बाह्य हिंसादि प्रवृत्तियों के त्यागरूप ही नहीं, अपितु अंतरंग कषाय शक्ति के अभावस्वरूप है; क्योंकि सम्यक्चारित्र का विरोधी कषायभाव है। पृष्ठ-१६७

(१२२३)

रात्रिभोजन का त्याग, पानी छानकर काम में लेना, मद्य, मांस, मधु एवं पंचोदम्बर फलों के सेवन का निषेध, अभक्ष्य भक्षण का परिहार, यहाँ तक कि गुप्ति, समिति आदि सब में अहिंसा तिल में तेल की तरह व्याप्त है।पृष्ठ-१७०

(१२२४)

अतः जिन्हें संसार दुःखों से मुक्ति चाहिए व जिन्हें अपना सर्व प्रकार उदय करना अर्थात् पूर्ण सुखी होना हो; उन्हें जैसे भी बने, मर-पचकर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके वीतराग चारित्र धारण करना चाहिए। संसार दुःखों से छूटने का एकमात्र यही उपाय है, इसमें ही सबका उदय है; अतः यही सर्वोदय तीर्थ है। पृष्ठ-१७६

(१२२५)

हवा, पानी और भोजन आदि, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं; किन्तु दुःख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी तब तक पूर्ण सुखी होना संभव नहीं है। मोह-राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो; इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है। पृष्ठ-१७७

(१२२६)

प्रत्येक सिद्धान्त तभी मान्य होता है जब वह प्रयोगों में खरा उतरे। धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है; और जीवन है धर्म की प्रयोगशाला। तीर्थंकर भगवान महावीर ने धर्म की परिभाषाएँ नहीं रटी थीं; उसका सही रूप समझकर, अनुभवकर, प्रयोग किया था। पृष्ठ-१८४

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम

समयसार

(१२२७)

तात्पर्य यह है कि पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एकमात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है; इसकी आराधना-उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। पृष्ठ-३४

(१२२८)

भगवान आत्मा तो देहादि में पाये जाने वाले रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी स्वभाववाला चेतन तत्त्व है, शब्दादि से पार अवक्तव्य तत्त्व है, इसे बाह्य चिह्नों से पहिचानना संभव नहीं है। भले ही उसे व्यवहार से वर्णादिमय अर्थात् गोरा-काला कहा जाता हो, पर कहने मात्र से वह वर्णादिमय नहीं हो जाता। पृष्ठ-३५

(१२२९)

जबतक यह आत्मा स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता मानता रहता है, तबतक वास्तविक भेद-विज्ञान उदित नहीं होता। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद कर्त्ता-कर्म अधिकार लिखना आवश्यक समझा। पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा आत्मा न तो स्वतंत्र ही हो सकता है और न उसमें स्वावलम्बन का भाव ही जागृत हो सकता है। यदि एक द्रव्य

को दूसरे द्रव्य के कार्यों का कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार किया जाता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। पृष्ठ-३६

(१२३०)

पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व तोड़ना ही भेदविज्ञान है। पृष्ठ-३८

(१२३१)

शुभाशुभभावरूप पुण्य-पापभाव भावास्रव हैं एवं उनके निमित्त से पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं का पुण्य-पाप प्रकृतियोंरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है। भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) इन दोनों ही आस्रवों से भिन्न है। अज्ञानी जीव पुण्य और पाप में अच्छे-बुरे का भेद कर पुण्य को अपनाना चाहता है, उपादेय मानता है, मोक्षमार्ग जानता है; जबकि आस्रवतत्त्व होने से पाप के समान पुण्यतत्त्व भी हेय है, उपादेय नहीं; संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। पृष्ठ-४०

(१२३२)

शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है। पृष्ठ-४२

(१२३३)

संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस समयसार में आरंभ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते हैं। पृष्ठ-४३

(१२३४)

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के आस्रव के अभावरूप संवरपूर्वक निज भगवान आत्मा का उग्र आश्रय होता है, उसके बल से आत्मा में उत्पन्न शुद्धि की वृद्धिपूर्वक जो कर्म खिरते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा। पृष्ठ-४४

(१२३५)

बंध का मूल कारण रागादि भावरूप अशुद्धोपयोग ही है। पृष्ठ-४६

(१२३६)

जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं। पृष्ठ-४८

(१२३७)

ज्ञान भी पुण्य-पापरूप अनेक कर्मों को, उनके फल को, उनके बंध को, निर्जरा व मोक्ष को जानता ही है, करता नहीं। पृष्ठ-४९

(१२३८)

भाई ! आचार्यदेव ने यह ग्रन्थाधिराज अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के अज्ञान और मिथ्यात्व के नाश के लिए ही बनाया है, जैसा कि इसमें समागत अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। समयसार की ३८वीं गाथा की टीका में तो साफ-साफ लिखा कि अत्यन्त अप्रतिबुद्ध आत्मविमूढ़ के लिए ही यह बात है। पृष्ठ-५२

(१२३९)

सम्यग्दर्शन की मुख्यता से लिखे गये इस परमागम को मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टियों को ही पढ़ना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो उन्हीं को करना है, मुनिराज तो सम्यग्दृष्टी ही होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना तो मुनि होना संभव ही नहीं है। पृष्ठ-५२-५३

(१२४०)

सम्यग्दर्शन के विषयभूत भगवान आत्मा की बात भी जिन्होंने नहीं सुनी है, उनके लिए ही समयसार लिखा गया है । पृष्ठ-५३

प्रवचनसार

(१२४१)

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी 'प्रवचनसार' परमागम आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व (स्व-पर) के रूप

में प्रस्तुत करनेवाली यह अमर कृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है। आज भी इसे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त है। पृष्ठ-५५

(१२४२)

अपनी विशिष्ट शैली में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनसार का प्रवेश सर्वत्र अबाध है। पृष्ठ-५५

(१२४३)

सम्यग्दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्र ही धर्म है और साम्यभावरूप वीतराग चारित्र से परिणत आत्मा ही धर्मात्मा है। पृष्ठ-५६

(१२४४)

इस अधिकार में शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र का स्वरूप एवं फल बताया गया है। आत्मरमणतारूप शुद्धोपयोग का फल अतीन्द्रिय ज्ञान (अनन्तज्ञान-केवलज्ञान-सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रियानंद (अनन्तसुख) की प्राप्ति है। पृष्ठ-५७

(१२४५)

इन्द्रियसुख हेय एवं अतीन्द्रियसुख उपादेय है, क्योंकि अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक सुख है। इन्द्रियसुख तो सुखाभास है, नाममात्र का सुख है। पृष्ठ-५८

(१२४६)

इस अधिकार में जोर देकर बताया गया है कि पापभावों से प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलताओं में तो दुःख है ही, पुण्यभावों — शुभ परिणामों से प्राप्त होनेवाली लौकिक अनुकूलताओं एवं भोगसामग्री का उपभोग भी दुःख ही है। पृष्ठ-५८

(१२४७)

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में अनन्त ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र हेतु शुद्धोपयोग का एवं उससे उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान

(सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रिय आनन्द का तथा सांसारिक सुख और उसके कारणरूप शुभ परिणामों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हुए अशुद्धोपयोग रूप शुभाशुभ परिणामों को त्यागकर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोगरूप वीतराग-चारित्र ग्रहण करने की पावन प्रेरणा दी गई है। पृष्ठ-६०

(१२४८)

यद्यपि सभी द्रव्य सत्रूप ही हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्तास्वरूप हैं; तथापि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। अतः सत्सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी एक होने पर भी सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतंत्र है। सभी द्रव्यों की एकता सादृश्यास्तित्व पर आधारित होने से समानता के रूप में ही है, अभिन्नता के अर्थ में नहीं। पृष्ठ-६१

(१२४९)

उत्सर्ग मार्ग का हठ न करें। क्षेत्र-काल एवं अपने देहादिक की स्थिति देखकर आचरण करें, पर इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि शुद्धोपयोगरूप मूलधर्म का उच्छेद न हो जावे। पृष्ठ-६८

(१२५०)

एकाग्रता के बिना श्रामण्य नहीं होता और एकाग्रता उसे ही होती है, जिसने आगम के अभ्यास द्वारा पदार्थों का निश्चय किया है, अतः आगम का अभ्यास ही सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। पृष्ठ-६९

(१२५१)

साधु को आगमचक्षु कहा गया है। आगमरूपी चक्षु के उपयोग बिना स्व-पर-भेदविज्ञान संभव नहीं। गुण-पर्याय सहित सम्पूर्ण पदार्थ आगम से ही जाने जाते हैं। आगमानुसार दृष्टि से सम्पन्न पुरुष ही संयमी होते हैं। पृष्ठ-६९

(१२५२)

उक्त दोनों ही गाथाओं में एक बात जोर देकर कही गई है कि अपने से बड़े शुद्धोपयोगी सन्तों की यथोचित विनय संबंधी शुभराग या उनकी वैयावृत्ति आदि के लिए लैकिकजनों से चर्चा भी निन्दित नहीं है। तात्पर्य यह है कि

ये कार्य शुद्धोपयोगरूप धर्म के समान अभिनन्दनीय अर्थात् उपादेय तो नहीं, पर निन्दनीय भी नहीं हैं, क्षमा के योग्य अपराध हैं। वास्तविक धर्म तो शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म ही है, ये तो शुद्धोपयोग के सहचारी होने से व्यवहार धर्म कहे जाते हैं। ये संवर-निर्जरारूप नहीं, आस्रवरूप ही हैं। पृष्ठ-७१

पंचास्तिकायसंग्रह

(१२५३)

प्रथम खण्ड के समस्त प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् ज्ञान कराना है; तथा दूसरे खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थविज्ञानपूर्वक मुक्ति का मार्ग अर्थात् उक्त शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है। पृष्ठ-७६

(१२५४)

दूसरे खण्ड में जीव और अजीव — इन दो की पर्यायों रूप नव पदार्थों की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। पृष्ठ-७७

(१२५५)

सत् द्रव्य का लक्षण कहा गया है, जो कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है। इसी सत् या सत्ता की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ध्यान रहे, इसी सत् — सत्ता या अस्तित्व को द्रव्य का लक्षण माना गया है, कायत्व को नहीं। द्रव्य के लक्षण में कायत्व को सम्मिलित कर लेने पर कालद्रव्य द्रव्य ही नहीं रहता, क्योंकि उसमें कायत्व (बहुप्रदेशीपना) नहीं है। पृष्ठ-७८

(१२५६)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित पंचास्तिकायसंग्रह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; जिसके अध्ययन बिना समयसार, प्रवचनसार जैसे महान् ग्रन्थों का मर्म समझ पाना सहज सम्भव नहीं है। पृष्ठ-८५

(१२५७)

आचार्य अमृतचन्द्र की 'समयव्याख्या' टीका से अलंकृत इस पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ के अध्ययन-मनन में वस्तु-व्यवस्था के सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होगा, वह अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। पृष्ठ-८५

नियमसार

(१२५८)

यह नियमसार नामक परमागम न तो व्यक्ति विशेष के संबोधनार्थ ही लिखा गया है और न सामान्यरूप से आत्मार्थीजनों के हितार्थ इसका प्रणयन हुआ है, भक्ति भी इसका हेतु नहीं है। इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन आचार्य कुन्दकन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिये किया था। इसमें जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त सन्त की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है।

यह ग्रन्थाधिराज तत्त्वोपदेशक एवं प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं; यह तो इन सबसे पूर्णत: विरक्त, परम परिणामिक भाव में ही अनुरक्त, वीतरागी सन्त, अन्तरोन्मुखी कुन्दकुन्द की कृति है। इसमें कुन्दकुन्द का अन्तरङ्ग व्यक्त हुआ है। उपदेश, आदेश, अनुशासन-प्रशासन कुन्दकुन्द की मजबूरी थी, जीवन नहीं। उनका हार्द नियमसार है। पृष्ठ-८७

(१२५९)

निजशुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान बिना चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए अनन्त दु:खों से मुक्ति के लिये निजात्मा का ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान ही एकमात्र नियम से करने योग्य कार्य है। निजात्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नियम होने से नियसार के प्रतिपाद्य विषय हैं। नियम के साथ 'सार' शब्द का प्रयोग विपरीताभिनिवेश के निषेध के लिए किया गया है। पृष्ठ-८९

(१२६०)

सम्पूर्ण नियमसार में एक ही ध्वनि है कि परमपारिणामिक भावरूप निजशुद्धात्मा की आराधना में ही समस्त धर्म समाहित हैं। इसके अतिरिक्त जो भी शुभाशुभ विकल्प एवं शुभाशुभ क्रियाएँ हैं, उन्हें धर्म कहना मात्र उपचार है। अत: प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र कर्त्तव्य इन उपचरित धर्मों से विरत हो एकमात्र निजशुद्धात्मतत्त्व की आराधना में निरत होना ही है। पृष्ठ-९६

(१२६१)

निजशुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण (लीनता) ही निश्चयरत्नत्रय है, नियम है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यानं, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति, परमावश्यक आदि इसी के विशेष हैं, अतः इसी में समाहित हैं।

पृष्ठ-९६

(१२६२)

यद्यपि मोहाछन्न दुःखी जगत को देख करुणावंत आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार जैसे ग्रन्थाधिराजों की रचना करते हैं, करुणा से विगलित हो उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, विविध युक्तियों एवं उदाहरणों से वस्तुस्वरूप समझाते हैं; तथापि अन्तर में भलीभाँति जानते हैं कि इसप्रकार के विकल्पों में उलझना आत्महित की दृष्टि से हितकर नहीं है, उचित नहीं है।

पृष्ठ-९७

(१२६३)

यह नियमसार नामक परमागम मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरुपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थाधिराज है। यह मात्र विद्वानों के अध्ययन की वस्तु नहीं, अपितु प्रत्येक आत्मार्थी के दैनिक पाठ की चीज है। पृष्ठ-९८

(१२६४)

'परमपरिणामिकभावरूप निज शुद्धात्मतत्त्व ही एकमात्र आराध्य है, उपास्य है, श्रद्धेय है, परमज्ञेय है। इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप पावन परिणतियाँ ही साधन हैं, मार्ग हैं, रत्नत्रय हैं, नियम हैं तथा इन्हीं पावन परिणतियों की परिपूर्णता ही साध्य है, मार्गफल है, निर्वाण है।' — इस परमार्थ सत्य का प्रतिपादक ही यह नियमसार नामक परमागम है। पृष्ठ-९८

अष्टपाहुड

(१२६५)

पाँच सौ तीन गाथाओं में निबद्ध एवं आठ पाहुडों में विभक्त यह अष्टपाहुड ग्रंथ मूलसंघ के पट्टाचार्य कठोर प्रशासक आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी

अमर कृति है, जो दो हजार वर्षों से लगातार शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाती चली आ रही है और इसकी उपयोगिता पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी; क्योंकि यह अवसर्पिणी काल है, इसमें शिथिलाचार तो उत्तरोत्तर बढ़ना ही है। अत: इसकी उपयोगिता भी निरन्तर बढ़ती ही जानी है। पृष्ठ-१००

(१२६६)

इतिहास साक्षी है कि दिगम्बर जैन समाज में वृद्धिंगत शिथिलाचार के विरुद्ध जब-जब भी आवाज बुलन्द हुई है, तब-तब आचार्य कुन्दकुन्द की इस अमर कृति को याद किया जाता रहा है, इसके उद्धरण देकर शिथिलाचार के विरुद्ध समाज को सावधान किया जाता रहा है। इस ग्रंथ के उद्धरणों का समाज पर अपेक्षित प्रभाव भी पड़ता है, परिणामस्वरूप समाज में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बनता है। यद्यपि विगत दो हजार वर्षों में उत्तरोत्तर सीमातीत शिथिलाचार बढ़ा है; तथापि आज जो कुछ भी मर्यादा दिखाई देती है, उसमें अष्टपाहुड का सर्वाधिक योगदान है। पृष्ठ-१००

(१२६७)

अष्टपाहुड एक ऐसा अंकुश है, जो शिथिलाचार के मदोन्मत्त गजराज को बहुत कुछ काबू में रखता है, सर्वविनाश नहीं करने देता। पृष्ठ-१००

(१२६८)

वीतरागी जिनधर्म की निर्मल धारा के अविरल प्रवाह के अभिलाषी आत्मार्थीजनों को स्वयं तो इस कृति का गहराई से अध्ययन करना ही चाहिए, इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी करना चाहिए, जिससे सामान्यजन भी शिथिलाचार के विरुद्ध सावधान हो सकें। पृष्ठ-१०१

उपसंहार

(१२६९)

आध्यात्मिक शान्ति और सामाजिक क्रान्ति का जैसा अद्भुत संगम इस अपराजेय व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र असंभव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है। पृष्ठ-११७

(१२७०)

आत्माराधना एवं लोककल्याण में समुचित समन्वय स्थापित कर, सुविचारित सन्मार्ग पर स्वयं चलनेवाले एवं जगत को ले जानेवाले समर्थ पुरुष विरले ही होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे ही समर्थ आचार्य थे, जो स्वयं तो सन्मार्ग पर चले ही, साथ ही लोक को भी मंगलमय मार्ग पर ले चले। उनके द्वारा प्रशस्त किया वह आध्यात्मिक सन्मार्ग आज भी अध्यात्मप्रेमियों का आधार है।

पृष्ठ-११७

(१२७१)

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का नियमित स्वाध्याय एवं विधिवत् पठन-पाठन न केवल आत्महित के लिए आवश्यक है, अपितु सामाजिक शान्ति और श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। पृष्ठ-११८

(१२७२)

श्रद्धा और चारित्र के इस संकट काल में कुन्दकुन्द के पंच परमागमों में प्रवाहित ज्ञान गंगा में आकण्ठ निमज्जन (डुबकी लगाना) ही परम शरण है।

पृष्ठ-११८



योगसार

(पद्यानुवाद)

परिणाम से ही बंध है अर मोक्ष भी परिणाम से।
यह जानंकर हे भव्यजन! परिणाम को पहिचानिये॥ १४॥

निज आतमा जाने नहीं अर पुण्य ही करता रहे।
तो सिद्धसुख पावे नहीं संसार में फिरता रहे॥ १५॥

निज आतमा को जानना ही एक मुक्तीमार्ग है।
कोई अन्य कारण है नहीं हे योगिजन! पहिचान लो॥ १६॥

मार्गणा गुणथान का सब कथन है व्यवहार से।
यदि चाहते परमेष्ठि पद तो आतमा को जान लो॥ १७॥

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर

(१२७३)

जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव संसार-सागर से पार होकर (तिरकर) मुक्ति प्राप्त करते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं। निज भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; इसलिए निजभगवान आत्मा ही परमतीर्थ है। पृष्ठ-५

(१२७४)

वीतरागी संतों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में होनेवाली अनिवार्य निर्मल परिणति, वृत्ति और संयमित प्रवृत्ति संयम है और आत्मोन्मुखी उग्र पुरुषार्थ से नित्य वृद्धिंगत शुद्धि एवं तदनुकूल वृत्ति तथा कठोर प्रवृत्ति तप है। दोनों चारित्र के ही रूप हैं। पृष्ठ-६

(१२७५)

तीर्थंकर भगवन्तों की उस परमपवित्र वाणी को, दिव्यध्वनि को, दिव्यध्वनि के आधार पर निर्मित सत्साहित्य को भी तीर्थ कहा जाता है; क्योंकि वह जिनवाणी भी, परमागम भी, आगम भी भव्यजीवों को संसार-सागर से पार उतारने में समर्थ निमित्त है। पृष्ठ-७

(१२७६)

जहाँ निजभगवान आत्मा की आराधना की जाती है, जहाँ रत्नत्रयधर्म की साधना की जाती है, जहाँ से तीर्थंकरादि ने निर्वाण प्राप्त किया है, जहाँ तीर्थंकरों के पंचकल्याणक हुए हैं, जहाँ आगम और परमागम लिखे गये हैं, जहाँ वीतरागी सन्तों का विहार होता है, जहाँ वे सन्त आत्मसाधना करते हैं; उन सभी परम-पवित्र स्थानों को तीर्थ कहा जाता है। पृष्ठ-८-९

(१२७७)

आज तो सम्पूर्ण जगत मूलतः उन्हें (सम्मेदशिखर आदि को) ही तीर्थ मानता है, तीर्थों के नाम पर उनकी ही यात्रा करता है, आराधना करता है; यह जानता तक नहीं है कि भगवान आत्मा भी तीर्थ है, रत्नत्रय रूप धर्म भी तीर्थ है, जिनदेव भी तीर्थ हैं, जिनवाणी भी तीर्थ है और जिनमन्दिर भी तीर्थ हैं।

स्थान की मुख्यता होने से इन्हें तीर्थक्षेत्र भी कहते हैं। विभिन्न कारणों से स्थापित होने के कारण इन्हें अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है। जैसे - सिद्धक्षेत्र, अतिशयक्षेत्र, कलाक्षेत्र, कल्याणकक्षेत्र आदि। पृष्ठ-९

(१२७८)

जहाँ से तीर्थंकर या अन्य सामान्य केवली मुक्त हुए हैं, उन्हें सिद्धक्षेत्र कहा जाता है। जहाँ से तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों में से एक या एकाधिक कल्याणक हुए हों, उन्हें कल्याणक तीर्थ कहते हैं। कुछ स्थान विशाल जिनबिम्बों के कारण भी तीर्थ कहे जाने लगते हैं। जैनबद्री को गोम्मटेश्वर बाहुबली की विशाल मूर्ति के कारण ही तीर्थ कहा जाता है। इसीप्रकार मूढ़बद्री को रत्नों के जिनबिम्बों के कारण और धवलादि ग्रंथों की मूल प्रतियों के संरक्षण के कारण तीर्थ माना जाता है। खजुराहो और देवगढ़ अपनी कलात्मकता के कारण तीर्थ कहे जाते हैं। वे कलातीर्थ के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। पृष्ठ-९

(१२७९)

कुछ तीर्थक्षेत्र आश्चर्यजनक घटनाओं से सम्बन्धित होने के कारण अतिशयक्षेत्र के नाम के जाने जाते हैं। महावीरजी (चाँदनपुर) पद्मप्रभजी (बाड़ा) चन्द्रप्रभजी (तिजारा) आदि इसीप्रकार के क्षेत्र हैं। आजकल विभिन्न कारणों से कुछ नये तीर्थ भी विकसित हो रहे हैं। पृष्ठ-९

(१२८०)

ये सभी तीर्थक्षेत्र और जिनमन्दिर जैन संस्कृति के आधारस्तम्भ हैं, जैन समाज की श्रद्धा के केन्द्रबिन्दु हैं, सामाजिक एकता और अखण्डता के सशक्त आधार हैं। पृष्ठ-९

(१२८१)

उन तीर्थों की महिमा विशेष है, जो तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से सम्बन्धित हैं; क्योंकि तीर्थंकर ही तो जैनदर्शन और धर्म के सूत्रधार हैं। कल्याणक तीर्थों में भी वे तीर्थ अधिक महत्त्व रखते हैं, जो तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि हैं; क्योंकि निर्वाण ही तो अन्तिम लक्ष्य है, परम साध्य है।

पृष्ठ-१०

(१२८२)

सम्मेदशिखर न केवल तीर्थराज है, अपितु शाश्वत तीर्थधाम है; क्योंकि वहाँ से न केवल वर्तमान चौबीसी के बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ है; अपितु अबतक वहाँ से असंख्य तीर्थंकरों व मुनिराजों का निर्वाण हो चुका है और भविष्य में भी अगणित तीर्थंकरों व मुनिराजों का निर्वाण होनेवाला है।

पृष्ठ-११

(१२८३)

यह तो आप जानते ही हैं कि भरतक्षेत्र में अबतक अगणित चौबीसियाँ हो गई हैं और भविष्य में भी होंगी। तथा यह सुनिश्चित है कि भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थंकर का जन्म अयोध्या में होता है और प्रत्येक ही तीर्थंकर का निर्वाण सम्मेदशिखर से होता है।

इसप्रकार यह तीर्थराज अगणित तीर्थंकरों और उनसे भी असंख्यगुणे मुनिराजों का निर्वाणस्थल होने से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थराज तो है ही; भविष्य में भी वहाँ से अगणित तीर्थंकर और उनसे भी असंख्यगुणे मुनिराज मोक्ष जावेंगे; अतः वह शाश्वत तीर्थधाम भी है। पृष्ठ-११

(१२८४)

जब हम तीर्थराज सम्मेदशिखर की वंदना कर रहे होते हैं तो हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि जहाँ हम खड़े हैं; ठीक उसके ऊपर ही अनन्त सिद्ध विराजमान हैं; मानों हमारे मस्तक पर ही अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। इस विचार से हमें अवश्य रोमांच होगा, हम आनन्दविभोर हो उठेंगे, हमारे

परिणामों में निर्मलता आवेगी, हमारी यात्रा सफल हो जावेगी, सार्थक हो जावेगी।

पृष्ठ-१३-१४

(१२८५)

ढाईद्वीप में सभी स्थान सिद्धक्षेत्र हैं; पर शिखरसम्मेद की भूमि के ऊपर के स्थान में सिद्धों की संख्या बहुत अधिक है; क्योंकि वहाँ एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनेकानेक सिद्ध समाहित हैं। दूसरी बात यह है कि सम्मेदशिखर सामान्य मुनिराजों की ही नहीं; अनन्त तीर्थंकरों की भी निर्वाणभूमि है। अत: वह तीर्थराज है और उसके विशेष महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

पृष्ठ-१४

(१२८६)

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि जब छठे काल के अन्त में प्रलय होता है तो सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कैसे सम्भव है कि यह स्थान वही है; जहाँ से अनन्त तीर्थंकर मोक्ष गये हैं?

प्रलय के उपरान्त भी कुछ चिह्न अवशेष रहते हैं, जिनके अनुसार इन्द्र अयोध्या और सम्मेदशिखर को पुन: व्यवस्थित करता है। अत: यह सुनिश्चित ही है कि यह वही स्थान है, जहाँ से अनन्त तीर्थंकरों का मोक्ष सुनिश्चित है।

इसप्रकार की शंका तीर्थंकरों के मुक्ति स्थल के सन्दर्भ में भी की जाती है; पर उक्त सन्दर्भ में भी कोई शंका-आशंका की गुंजाइश नहीं है; क्योंकि जिस स्थान विशेष से तीर्थंकर मोक्ष जाते हैं; वहाँ भी इन्द्र निर्वाण पूजा के लिए चिह्न बना देता है।

पृष्ठ-१५

(१२८७)

अत: एक प्रश्न लोगों के दिमाग में सहज ही उत्पन्न होता है कि श्रमण संस्कृति के ये तीर्थ आखिर पर्वत की चोटियों पर ही क्यों हैं ? इनका निर्माण पर्वत की चोटियों पर ही क्यों किया गया, समतल भूमि पर क्यों नहीं ? यात्रियों की सुविधाओं का भी तो कुछ ध्यान रखा जाना चाहिए था। ये तीर्थस्थान जितने भी सहज सुलभ होते, सामान्य लोग उनका उतना ही अधिक लाभ उठा सकते थे। धर्म तो सर्व सुलभ होना चाहिए, सहज सुलभ होना चाहिए, सबकी पकड़ में होना चाहिए।

अरे भाई ! यह प्रश्न तो तब खड़ा होता कि जब किसी ने बुद्धिपूर्वक इन तीर्थों का निर्माण किया होता। ये तो सहज ही बन गये हैं। हमारे तीर्थंकरों ने, साधु-सन्तों ने जहाँ आत्माराधना की, आत्मसाधना की, जहाँ वे ध्यानस्थ हो गये; वे ही स्थान तीर्थ बन गये। पृष्ठ-१६

(१२८८)

हमारे साधुजन पर्वतों की चोटियों पर निर्जन वन में आत्मसाधना करते हैं; अतः हमारे तीर्थस्थान निर्जन वन-प्रान्त व पर्वत की चोटियाँ बन गईं।

पृष्ठ-१६-१७

(१२८९)

जब यह बात कही जाती है तो एक प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि हमारे तीर्थंकरों ने, हमारे सन्तों ने, आत्मसाधना के लिए ऐसे निर्जन स्थान ही क्यों चुने ?

इसलिए कि हमारा धर्म वीतरागी धर्म है, आत्मज्ञान और आत्मध्यान का धर्म है। आत्मध्यान के लिए एकान्त स्थान ही सर्वाधिक उपयोगी होता है। जैसा एकान्त इन पर्वत की चोटियों पर उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं।

पृष्ठ-१७

(१२९०)

हमारे तीर्थंकर और साधुजनों ने ऐसा स्थान और इतना प्रतिकूल वातावरण ध्यान के लिए क्यों चुना ? हम देखते हैं कि सम्मेदशिखर के जिस स्थान से तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त की है; वहाँ कहीं-कहीं तो इतना भी स्थान नहीं है कि कोई दूसरा व्यक्ति खड़ा भी हो सके। पृष्ठ-१७

(१२९१)

हमारे तीर्थंकर, हमारे मुनिराज निर्जन वनों में ही क्यों रहते हैं; वनवासी ही क्यों होते हैं, नगरवासी क्यों नहीं ? क्योंकि यदि वे नगर में रहते तो हमारे तीर्थ नगरों में ही होते, वन में नहीं, पर्वतों पर नहीं; फिर हमें भी अपने तीर्थों पर सभी सुख-साधन सहज ही उपलब्ध रहते; फिर तो हमारी यात्रा भी

पिकनिक का आनन्द देती, पिकनिक जैसी आनन्ददायक होती; आज जैसी थका देनेवाली नहीं। पृष्ठ-१८

(१२९२)

तीर्थयात्रा वैराग्यभावना की वृद्धि के लिए की जाती है, आमोद-प्रमोद के लिए नहीं। तीर्थों को आमोद-प्रमोद का स्थान बनाना धर्म नहीं, धर्म पर आघात है। पृष्ठ-१८

(१२९३)

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर चर्या के काल में जो भी घटित हुआ हो, वह सब सुनाना पड़ता है। यदि चर्या के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में कुछ दोष लग गया हो, तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित लेना होता है। पृष्ठ-२०

(१२९४)

भोजन की चर्या के बाद ही यह सब क्यों ?

इसलिए कि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिए कितना खतरनाक है ? इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित्त करें।

इस बात को ध्यान में रखकर वीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिए। गृहस्थों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे भी मुनिराजों को जगत के प्रपंचों में न उलझावें। यदि उन्हें उनका सत्समागम मिल जाता है तो उनसे वीतरागी चर्चा ही करना चाहिए। पृष्ठ-२१

(१२९५)

मुनिराज उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकारी वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भौंरा या मधुमक्खी जिन फूलों से मधु ग्रहण करती

हैं, रस ग्रहण करती हैं; वह उसे रंचमात्र भी क्षति न हो जावे इस बात का ध्यान रखती हैं। वे पुष्प का रस लेते समय इतना ध्यान रखते हैं कि उस पर अपना वजन भी नहीं डालते, भिनभिनाते रहते हैं, उड़ते रहते हैं और अत्यन्त बारीक अपने डंक से इसप्रकार रस चूसते हैं कि पुष्प का आकार भी नहीं बिगड़ता, वह एकदम जैसा का तैसा बना रहता है। उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते हैं, उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, ऐसा नहीं होने देते। अत: उनके उद्देश्य से बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ ने जो आहार स्वयं के लिए बनाया, उसमें से ही वह मुनिराज के लिए देवे, वही ग्रहण करते हैं। मुनिराजों के उद्देश्य से बनाये गये आहार में जो आरंभी हिंसा होती है, उसका भागी मुनिराज को बनना होगा; इसकारण मुनिराज नहीं चाहते कि कोई उनके उद्देश्य से आहार बनावे। यही कारण है कि वे उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। पृष्ठ-२१

(१२९६)

धीर-वीर साधु-संतों का धर्म तो एकमात्र ध्यान ही है, ध्यान की अवस्था में ही केवलज्ञान होता है, अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। पृष्ठ-२२

(१२९७)

यदि ध्यान की सिद्धि वातानुकूलित कमरों में परिवार के साथ बैठकर होती तो हमारे तीर्थंकरों के घर में क्या कमी थी? क्या उनके यहाँ एक भी वातानुकूलित कमरा न होगा ?

अरे भाई ! शान्तिनाथ तो तीर्थंकर के साथ-साथ चक्रवर्ती भी थे; उनके क्या कमी थी ? वैसे सभी तीर्थंकर राजकुमार ही थे, राजा ही थे, किसी को कोई कमी नहीं थी, पर ध्यान की सिद्धि के लिए वे जंगल में गये, घर-परिवार छोड़कर गये, पर्वत की चोटियों पर गये; जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ये हमारे सम्मेदशिखर जैसे तीर्थक्षेत्र। पृष्ठ-२२

(१२९८)

गर्मी-सर्दी की परवाह करनेवाले ध्यान नहीं किया करते और ध्यान करनेवाले गर्मी-सर्दी की परवाह नहीं करते। हमारे मुनिराजों का ध्यान तो सिंह

जैसे क्रूर प्राणी भी भंग न कर सके और आप मक्खी-मच्छरों के कारण ध्यान नहीं कर पाते हैं। पृष्ठ-२२

(१२९९)

ध्यान के लिए निरापद स्थान वातानुकूलित घर नहीं, प्रकृति की गोद में बसे घने जंगल हैं, पर्वत श्रेणियाँ हैं। वातानुकूलित हॉल में बैठकर आजतक किसी को केवलज्ञान हुआ हो तो बताइये, पर ऐसे अनन्त सिद्ध हो गये हैं, जिन्हें सम्मेदशिखर जैसे पर्वतों की चोटियों पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। पृष्ठ-२३

(१३००)

जो ध्यान केवलज्ञान का साधन था, वह आज नवधनाढ्यों के तनाव को कम कर रहा है — ध्यान का इससे बड़ा परिहास और क्या होगा ? आज ध्यान का उपयोग दवा के रूप में किया जा रहा है, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए किया जा रहा है। जिस शरीर से वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, एकत्व तोड़ने के लिए प्रतिदिन पाठ की जाने वाली बारह भावनाओं में से आरम्भ की छह भावनाएँ समर्पित हैं; जिस शरीर की अनित्यता; अशरणता, असारता, भिन्नता और अशुचिता का चिन्तन ध्यान की सिद्धि के लिए धर्मात्माजन निरन्तर करते हैं; आज हम उसी शरीर की मजबूती के लिए ध्यान जैसे पवित्र कार्य का उपयोग कर रहे हैं।

जो ध्यान विकृत आत्मा की चिकित्सा के लिए था, वह आज शरीर की चिकित्सा में लग गया है। पृष्ठ-२३

(१३०१)

हमारे ये तीर्थस्थान वीतरागियों के स्थान हैं, वैरागियों के स्थान हैं, योगियों के स्थान हैं; उन्हें भोगियों के स्थान बनाना उचित नहीं है, उन्हें भोगियों के स्थानों के समान सजाना भी उचित नहीं है। उन्हें साफ-सुथरा रखना और जीवनोपयोगी आवश्यकताओं से सम्पन्न करना अलग बात है; पर वहाँ मनोरंजन के भी साधन जुटाना, आमोद-प्रमोद के साधन जुटाना, बाग-बगीचा लगाना, अभक्ष्य-भक्षण के साधन जुटाना तथा टी.वी. और वी.सी.आर. का प्रवेश कदापि ठीक नहीं है।

ये तो संयम से रहने के स्थान हैं, सादा जीवन जीने के स्थान हैं; यहाँ साज-शृंगार करके जाना, असंयमित जीवन बिताना — इनकी गौरव गरिमा को कम करनेवाला है। इन्हें तो ध्यान और अध्ययन के केन्द्र बनाना चाहिए। यहाँ तो जैनदर्शन के गहरे अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ तो आध्यात्मिक वातावरण रहना चाहिए, आध्यात्मिक चर्चा-वार्ता होना चाहिए। पृष्ठ-२४



कुन्दकुन्द शतक

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन!॥ ४६ ॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं?॥ ४७ ॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं?॥ ४८ ॥

मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन॥ ४९ ॥

सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं?॥ ५० ॥

सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं?॥ ५१ ॥

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो?॥ ५२ ॥

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

५,००० रु. प्रदान करने वाले :

गुप्तदान हस्ते गुणमाला भारिल्ल, जयपुर

२,००० रु. प्रदान करने वाले :

श्री महावीरप्रसादजी सरावगी, कलकत्ता
श्री माँगीलालजी मिठालालजी वोरा, भिण्डर
श्री महेन्द्रकुमारजी मणीलालजी भलाणी, मुम्बई

१,५०० रु. प्रदान करने वाले :

श्री अजितकुमारजी तोतूका, जयपुर

१,१०० रु. प्रदान करने वाले :

श्री विजयकुमारजी जैन, नई दिल्ली

१,००० रु. प्रदान करने वाले :

स्व. श्री मोहनलालजी पाटनी की स्मृति में, कलकत्ता • श्री उल्लासभाई एम. जोबालिया, मुम्बई • श्रीमती भँवरीबाई घीसालालजी छावड़ा, सीकरवाले • श्री कान्तिभाई रामजीभाई मोटाणी, मुम्बई • श्री हिम्मतलाल हरिलालजी शाह, मुम्बई • श्री मुकुन्दरायजी मणीलालजी खारा, मुम्बई • श्रीमती रमाबेन सुमनभाई दोशी, मुम्बई • श्री नितिनभाई, मुम्बई • श्री उत्तमचन्दजी भीकमचन्दजी संघवी, पूना • श्री जयन्तीभाई जोबालिया, मुम्बई • श्री बच्चूभाई पारेख, मुम्बई • श्रीमती कमलाबेन चमनभाई, मुम्बई • श्रीमती राजरानी ध.प. श्री रूपचन्दजी रोटड़िया, नागपुर • श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई • श्रीमती जसवंतीबेन गमनलालजी शाह, देवलाली • श्री ताराचन्दजी सोगानी, जयपुर श्री संजीवकुमारजी गोधा, जयपुर • श्री सोहनलालजी जैन जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर • श्री कैलाशचन्दजी सेठी, जयपुर • श्रीमती इन्दूमती अण्णासाहेब, खेमलापुरे, घटप्रभा • श्रीमती प्रवीणा बेन, श्री गिरीषभाई, अमेरीका • श्रीमती साकरबेन हँसराज भाई भारो, मुम्बई।

५०० रु. प्रदान करने वाले :

श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज • श्रीमती शीलाबाई ध.प. श्री नन्दकिशोरजी वकील, विदिशा • श्री नथमलजी झाँझरी, जयपुर • श्री प्रकाशचन्दजी जैन, जयपुर • श्री लक्ष्मीचंदजी जैन, सागरवाले •श्री एस. सेठी, जयपुर • गुप्तदान • श्री सतीशचन्दजी सेठी, नसीराबाद • कुमारी माधुरी टोंग्या, जयपुर • श्रीमती मंगला देवी ध.प. श्री बी.जी. बखेड़ी, बेलगाँव • श्रीमती अचरज बेन ध.प. निहालचन्दजी, पीतल फैक्ट्री, जयपुर • श्री शान्तिकुरु चेरिटेवल ट्रस्ट, नई दिल्ली ।

३०१ रु. प्रदान करने वाले :

श्री फूलचन्दजी विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन • श्रीमती रामस्वरूप देवी ध.प. स्व. पं. धन्नालालजी, लश्कर, ग्वालियर।

२५१ रु. प्रदान करने वाले :

ब्र. श्री हीरालाल खुशालचन्दजी दोशी, माण्डवे • श्रीमती श्री कान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छावड़ा, इन्दौर • श्री मनोहरलाल सुशीलकुमारजी इन्दौर • श्री मांगीलाल पदमकुमारजी पहाड़िया, इन्दौर • श्री झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम।

२०१ रु. प्रदान करने वाले :

श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी • श्री प्रेमचन्दजी जैन, जयपुर •श्री पद्मचन्दजी जैन, जयपुर • श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छावड़ा, इन्दौर • महिला मण्डल बापूनगर, जयपुर • माणिकचन्दजी गोदिका

१५१ रु. प्रदान करने वाले :

श्री शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा • श्री बाबूलालजी तोतारामजी जैन, भुसावल

१०१ रु. प्रदान करने वाले :

श्रीमती पावा देवी ध.प. मोहलालजी सेठी, गोहाटी

कुल राशि ४४,८७५/-

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	समयसार अनुशीलन भाग-१ (१ से ६८ गाथा तक)	२०.००
२.	समयसार अनुशीलन भाग-२ (६९ से १६३ गाथा तक)	२०.००
३.	समयसार अनुशीलन भाग-३ (१६४ से २५६ गाथा तक)	२०.००
४.	परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१६.००
५.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	२०.००
६.	आत्मा ही है शरण	१२.००
७.	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़)	१२.००
८.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	१०.००
९.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	७.००
१०.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	८.००
११.	बारह भावना : एक अनुशीलन	१०.००
१२.	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	६.००
१३.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	८.००
१४.	गागर में सागर	७.००
१५.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
१६.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	६.००
१७.	निमित्तोपादान	३.५०
१८.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी)	२.५०
१९.	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	५.००
२०.	चैतन्य चमत्कार	२.००
२१.	पण्डित टोडरमल : जीवन और साहित्य	२.००
२२.	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	४.००
२३.	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२४.	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	३.००
२६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२७.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२९.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
३०.	सार समयसार	१.५०
३१.	शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	२.००
३२.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)	१.२५
३३.	समयसार पद्यानुवाद	२.००
३४.	समयसार कलश पद्यानुवाद	१.००
३५.	योगसार पद्यानुवाद	१.००
३६.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.००
३७.	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१.००
३८.	तीर्थंकर भगवान महावीर	१.००
३९.	अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
४०.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.५०
४१.	अर्चना (जेबी साइज)	१.००
४२.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
४३.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	१.००



डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि.सं. १९९२ तदनुसार शनिवार, दिनांक २५ मई, १९३५ ई. को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए. पीएच.डी. हैं। समाज द्वारा विद्यावाचस्पति, वाणीविभूषण, जैनरत्न आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसेट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप अनेक बार विदेश यात्राएँ भी कर चुके हैं।

जैन-जगत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी ४१ पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गयी है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित कृतियाँ ३६ लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्री वाले जैन आध्यात्मिक मासिक वीतराग-विज्ञान हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है।